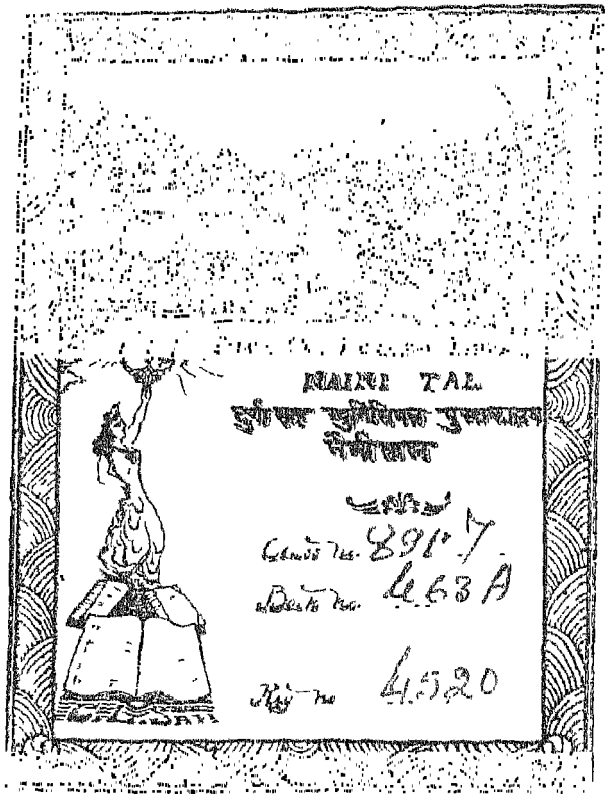
NAINI TAL
891.7
L63A
4520

आह ! बकरा

आह ! बकरा

[हास्य-व्यंग्य की छोटी-बड़ी कहानियाँ]

उग्रसेन नारंग

प्रकाशक
आर्गस पब्लिशिंग कं०
मथुरा रोड, नई दिल्ली

प्रकाशक :
आर्गस पब्लिशिंग कं०
मथुरा रोड, नई दिल्ली

प्रथमावृत्ति २०००
दिसम्बर १९५६
मूल्य २ रु० ८ आने

मुद्रक :
कुमार फाइन आर्ट प्रेस
११४३ चाह रहट, दिल्ली

इस किताब पर सम्मति देने वाले

और

आशिक़ अली क़साई के नाम

मेरे और बकरे का मृत्यु-शय्या पर आर्तनाद:—

"किस मुहब्बत से जान लेते हो !"

सूची

★	...	५
एक नेक सलाह	...	६
माँ की गोद में आओ	...	७
★	...	२०
शांति-दूत	...	२१
पंचशील	...	२२
लटकता ख़ंजर	...	२३
★	...	३०
★	...	३१
दुष्ट और शैतान	...	३२
★	...	३९
★	...	४०
खुरदरी उँगलियाँ	...	४१
★	...	४९
★	...	५०
आह ! बकरा	...	५१
★	...	६१
★	...	६२

मैंने लिखना छोड़ दिया है ... ६३
★ ... ८३
★ ... ८४
ठेका ... ८५
"हमारी जान गयी उनकी अदा ठहरी" ... १०२
समझौता ... १०३
समानान्तर रेखाएँ ... १०४
"फ़र्श-ए-मख़मल पे मेरे पाँव छिले जाते हैं" ... १११
हैंगर ... ११२
आज्ञाकारी ... १३१
तू कौन ? मैं ख़्वाहमख़्वाह ... १३२
धर्मवीर ... १३३
अपनी बात ... १४८
सच्ची बात ... १४९
आख़िरी बात ... १५०
छपते-छपते ... १५२

उपसेन नारंग की उर्दू कहानियों का

हिन्दी-रूप प्रस्तुत है ।

आह! अनुवादक

इन कहानियों के सभी
मुख्य पात्र स्वर्गीय बकरे हैं।
आह! लेखक

★

एक पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर लिखा था

"भारतीय चिड़ीमार"

लेखक :—

दास कृपालु

पुस्तक के मिलने का पता

छपने के तीन दिन बाद तक :—

दास कृपालु

नाई-मण्डी

आगरा

और

उसके बाद अपने शहर के हर एक

पंसारी की दुकान से प्राप्त

कीजिए।

क्या फ़रमाया आपने ?

इस पुस्तक पर मुझे भी यही

लिखना चाहिए था ?

जी, मैंने यही लिखना था

लेकिन प्रकाशक नहीं माना।

★

एक नेक सलाह

"अगर आप साहित्यकार हैं और अपनी रचनाओं को पुस्तकाकार देना चाहते हैं तो एक लाउडस्पीकर किराये पर लेकर अपने मकान की छत पर बैठ जाइये, रात भर अपनी रचनाएं पढ़ते रहिए और मुहल्ले वालों को एक पल के लिए भी न सोने दीजिए। सच कहता हूँ कि भोर होने से पहले ही मुहल्ले वाले चन्दा जमा करके आपकी पुस्तक छाप देंगे।

ये एक आज़मूदा नुस्ख़ा है,
आप भी आज़मा देखिये।

क्या कहा—? जी हां, मेरी यह पुस्तक भी इसी तरह छपी है।"

मां की गोद में आओ

कल्याणदास का बाप परनाले के टूटे हुए टीन पर कच्चे कोयलों की केरी बड़े क़रीने से रख रहा था। उसके पास ही मक्के के भुट्टे एक मैली-सी बोरी पर बिखरे पड़े थे। उसने जेब से दियासलाई की डिबिया निकाली और अपनी टोपी की तह में रखी हुई बीड़ी सुलगाई। बीड़ी चूंकि देर से सुलगी थी इसलिए माचिस की तीली क़रीब-क़रीब सब फुंक चुकी थी, मगर फिर भी उसने तीली को फेंका नहीं। अंगूठे और साथ वाली अंगुली के झुलस जाने के बावजूद तीली को केरी में रख दिया। गत्ते का पंखा उठा कर कोयलों को हवा करने को ही था कि उसे सामने से कल्याण दास आता दिखाई दिया।

"पिताजी !" कल्याणदास अपने बाप के नज़दीक आकर बोला।

"बेटा ! आज तुम कालेज नहीं गए ?"

"हां पिताजी ! आज मुझे कुछ सोचना था।"

"क्या सोचना था, मेरे बच्चे ?" बाप ने पुचकारने के अंदाज़ से पूछा जिसमें खुशी और इतमीनान की सांसें भी

शामिल थीं, क्योंकि बाप को विश्वास था कि कल्याणदास ने अपने से छोटी दोनों जवान बहनों के विषय में कुछ-न-कुछ अवश्य सोचा होगा।—क्यों न हो, ग़रीब मक्का के भुट्टे भून-भून कर उसे उच्च शिक्षा दिलवा रहा था।

कल्याणदास को दार्शनिक विचारों में तल्लीन देख कर उसने फिर पूछा—"हां, हां, कहो बेटा ! क्या सोच रहे थे ?"

"सोच ही नहीं रहा था पिताजी, मैं तो निर्णय भी कर चुका हूँ। आज सुबह जब मैं बाज़ार से दही लेने गया तो हलवाई की दुकान पर कुछ लोग बातें कर रहे थे कि 'गोआ' में भारतीयों पर बड़ा अत्याचार हो रहा है।"

बाप ने अपने माथे पर नमूदार हुई पसीने की बूंदों को पंखे की डंडी से तोड़ डाला। "हाँ बेटा ! जब तक दुनिया में ग़रीबी है, ग़रीबों पर अत्याचार होता ही रहेगा मगर तुम यह तो बताओ कि तुमने निर्णय कौनसा किया है ?" हवा लगने से कोयलों की केरी में एक चिनगारी चटखी।

"पिताजी ! मैंने निर्णय किया है कि मैं सत्याग्रह करने गोआ जाऊंगा।"

"बेटा ! वह मंगलू लुहार का काँचू बेटा जो तुम्हारी छोटी बहनों के स्कूल जाने के समय रोज़ाना सत्याग्रह करता है, तुमने उसके बारे में भी कुछ सोचा है ?"

"पिताजी !" कल्याणदास चमककर बोला—"वह छोटी बात है और यह बड़ी बात है। गोआ भारत को मिलना ही चाहिए।"

"बेटा ! अगर होशियारपुर भारत को मिल गया है तो बताओ तुम्हें उससे क्या फ़ायदा हुआ है ?"

कल्याणदास को गुस्सा आ गया। उसकी आंखों से शोले निकलने लगे। उसके कानों के रोयें सुर्ख हो गये, कड़क कर बोला—"पिताजी...!" वह कुछ कहना चाहता था मगर उसे कुछ अनुभव हुआ कि बूढ़े अशिक्षित बाप के लिए उसे इस प्रकार के शब्द प्रयोग नहीं करने चाहिएं। धैर्य से काम लेते हुए बोला—"पिताजी! यह देश-भक्ति का तक़ाज़ा है कि मैं गोआ जाऊं। आप नहीं समझते, सत्याग्रह से गोआ भारत को मिल जायेगा।"

"बुरा न मानना कल्याण बेटा, अगर तेरे सत्याग्रह करने से गोआ भारत को मिल जायेगा तो तेरी छोटी बहन कांता भी मंगलू लुहार के काने बेटे को मिल जायेगी!" यह कह कर बाप ने चिमटा उठाया और सुलगती हुई केरी को दो भागों में बांटने लगा।

कल्याणदास गोआ जाने से पहले अपने बाप को क़ायल करना चाहता था, इसलिए विनम्र स्वर में बोला—"पिताजी! गोआ भारत मां का अंग है।"

"बेटा! तुम्हें भारत मां के अंग का तो ख्याल है लेकिन अपनी मां के असली अंगों का कोई ख्याल नहीं है।" बाप ने भुट्टे छीलते हुए दुःखी दिल से कहा और फिर एक भुट्टे को अधसुलगी केरी पर रख दिया। पंखे से हवा करते हुए कहने लगा—"कल्याण, एक बात तो बताओ बेटा!"

"क्या है पिताजी?" कल्याणदास ने बेदिली से पूछा।

"तुम्हारी परीक्षा कब से शुरू हो रही है?"

"जी...!" कल्याणदास का गला सूख गया। "जी...इस महीने की तेरह तारीख़ से।"

"और आज क्या तारीख़ है ?"

बाप ने चिमटे से भुट्टे को करवट लेने में सहायता दी। "मैंने पूछा आज क्या तारीख़ है ?"

"जी, पांच है।"

"तो आज से सात-आठ रोज़ बाद जब परीक्षा शुरू होगी तो उस समय तुम गोआ की किसी काल कोठरी में होगे।" बाप ने सर्द आह भरी—"बेटा ! अगर यही बात थी तो दाख़ला क्यों भेजा था ? मैं यह सोचता था....." उसकी आवाज़ भर्रा गई। "मैं सोचता था कि इस साल तुम कालेज की पढ़ाई ख़त्म कर लोगे और अपने बूढ़े बाप के झुलसे हुए हाथों से चिमटा अपने हाथ में ले लोगे मगर नहीं जी, ऐसा क्यों कर होगा—? मैं जानता हूँ तुम मेरे कहने पर नहीं रुकोगे। देशभक्तों और लेखकों को घर से कोई मोह नहीं होता। नारायण बाबू कह रहे थे कि आचार्य विनोबा भावे भी एक दिन घर से दही लेने हलवाई की दुकान पर आये थे कि रास्ते में सत्याग्रहियों के दल में सम्मिलित हो गए।"

कल्याणदास के बूढ़े बाप के चेहरे की झुर्रियों में आंसू इस बेतरतीबी से बह रहे थे जिस तरह पानी भाखड़ा बांध को कई जगहों से तोड़ कर बह निकला हो। उधर कल्याणदास के गोआ जाने की ख़बर सारे मुहल्ले में फैल गई थी। 'गोआ आटा-दान समिति' वाले रोटियां खाकर मुहल्ले में जमा हो

चुके थे और उन्होंने कल्याणदास के आते ही जलसे की कार्य-वाही शुरू कर दी। मुहल्ले के बड़े-बड़े लीडरों और प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने जिनका पेशा मुर्ग़ाबाज़ी से लेकर हर क़िस्म की बाज़ी का था और जो चुनावों मे सोने का दमड़ा देकर कई बाज़ियां मार चुके थे, धुंआधार तक़रीरें कीं—और सभी ने कल्याणदास की देशभक्ति और बलिदान की प्रशंसा की। गाड़ी का समय हो चुका था, इसलिए जलसा शीघ्र ख़त्म कर दिया गया। कल्याणदास ने 'गोआ आटा-दान समिति' के प्रधान से कहा कि वह विदा होने से पूर्व अपने पिताजी से आशीर्वाद लेना चाहता है।

"ज़रूर-ज़रूर!" प्रधान जी ने कल्याणदास से पूछा—"मगर आपके पिताजी हैं कहां—यहां तो कहीं नज़र नहीं आते?"

कल्याणदास ने रहस्यात्मक स्वर में कहा कि वह मोरी-गेट के गन्दे नाले पर बैठे भुट्टे भून रहे हैं—मुझे वहीं उनके पास जाना होगा।"

प्रधान जी ने कहा—"कोई बात नहीं। अभी मोटर का इन्त-ज़ाम हुआ जाता है।" तुरन्त ही दो-तीन मोटरकारें और कुछ टैक्सियां आ गईं जिन पर सब लोग फ़ोटोग्राफ़रों सहित बैठ गये। फिर यह भव्य प्रदर्शन मोरीगेट की ओर चल दिया—रास्ते में लोगों ने नारों और तालियों से उनका भव्य स्वागत किया।

कल्याणदास का बाप सिर झुकाये भुट्टे भून रहा था कि इतने में कल्याणदास की कार बिल्कुल समीप जा खड़ी हुई।

एक लीडर ने आगे बढ़कर दरवाज़ा खोला—कल्याणदास कार से बाहर निकल कर बाप के सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। वह अपने बाप के पैर छूना चाहता था मगर वह ऐसा न कर सका, क्योंकि उसका बाप उकड़ू बैठा हुआ कोयलों को पंखा कर रहा था। अपने बाप के पैर न छू सकने का कल्याणदास को बहुत अफ़सोस हुआ क्योंकि वह ऐसी दशा में तसवीर खिचवाना चाहता था। धीरे से बोला—"पिताजी! मैं जा रहा हूँ—मुझे आशीर्वाद दीजिये।"

बाप ने चाहा कि वह भुट्टे भूनने वाला गर्म चिमटा उसके सिर में दे मारे मगर सामने कैमरा लिए प्रेस फ़ोटोग्राफ़र को देखकर झिझक गया।

"पिताजी! अब तो मैं जा ही रहा हूं—आशीर्वाद तो दे दीजिए।" और पिताजी ने आशीर्वाद देने की बजाय फ़ौरन एक भुना हुआ भुट्टा अपने बेटे के हाथ में थमा दिया। फ़िज़ा तालियों से गूंज उठी। भुट्टा लेकर कल्याणदास कार में बैठ गया और इस तरह यह क़ाफ़िला स्टेशन की ओर अग्रसर हुआ।

गाड़ी जब चली तो सब लोगों की आंखें आंसुओं से लबरेज़ हो गईं। कल्याणदास के चेहरे पर जो हारों से ढका हुआ था, विजयी मुस्कान नृत्य कर रही थी। और वह गाड़ी के दरवाज़े में खड़ा विदा कहते हुए हाथों के जवाब में अपना हाथ हिला रहा था—और वह अपना हाथ तब तक हवा में लहराता रहा जब तक कि वह सब लोग उसकी नजरों से ओझल न हो गए।

फ़रीदाबाद के स्टेशन पर गाड़ी रुक गई। और जब दस-पन्द्रह मिनट गुज़रने के बाद भी न चली तो मुसाफ़िरों ने बड़ी बेचैनी से खिड़कियों से बाहर झांकना शुरू कर दिया। कल्याणदास के पूछने पर स्टेशन पर एक चाय बेचने वाले ने बताया कि आगे से देहली जाने वाली गाड़ी आ रही है, इस लिये यहां पर दोनों का मेल होगा। यह सुनकर कल्याणदास अपने डिब्बे से उतरा और रेलवे लाइन को फांद कर वृक्षों की ओट में पेशाब करने चला गया क्योंकि थर्ड क्लास की संडास बड़ी गन्दी थी।

कल्याणदास अभी पेशाब कर ही रहा था कि उधर से देहली जाने वाली गाड़ी भी दनदनाती हुई आ गई। कल्याण-दास को एकदम ख्याल आया कि जाती मरतबा क्यों न वह एक बार 'हूरे अरब' ही देख ले—इस ख्याल के आने की देर थी कि कल्याणदास तुरन्त देहली जाने वाली गाड़ी पर ही सवार हो गया।

देहली पहुँचने पर वह फ़र्स्ट क्लास के गेट से बाहर निकल गया। लीडर के रूप में होने के कारण किसी ने उससे टिकट न पूछा—और जब वह मैजिस्टिक सिनेमा पर पहुँचा तो दस आने की टिकट वाली खिड़की बंद हो चुकी थी लेकिन उसके पास ही खड़ा एक आदमी ब्लैक में टिकटें बेच रहा था। कल्याणदास को देखकर सहम गया, मगर फिर इस ख्याल से कि वह पकड़ने वालों को 'शो' के सात आने दे चुका है बिना किसी झिझक के अपना धन्धा करने लगा।

कल्याणदास आगे बढ़ा और स्थायी ग्राहकों के स्वर में बोला—"दस आने वाला कितने को है भाई ?"

"आ...दस आने वाली चौदह आने को—" उसने कल्याणदास को जवाब देने की बजाय एक आवाज़ लगादी।

"हमें कुछ रियायत भी होगी ?" कल्याणदास ने अपनी जवाहर जाकिट में हाथ डालते हुए पूछा।

"पैसे एक होंगे, चाहे बच्चे को भेजो चाहे जवाहरलाल नेहरू को।"

रात के सवा बजे शो खत्म हुआ। कल्याणदास रिक्शा लेकर स्टेशन पहुँचा और डेढ़ बजे जाने वाली गाड़ी पर सवार हो गया। रास्ते में कई खूबसूरत स्टेशनों और शहरों में तक़रीर करते हुए वह पांच दिन बाद 'बेलगांव' पहुँच गया जहां गोआ की सीमा से सिर्फ़ पचास क़दम के फ़ासले पर सत्याग्रहियों के लिये खेमे लगे हुए थे। कल्याणदास को भी एक खेमा दे दिया गया।

'गोआ आटा-दान समिति' की ओर से यहां कोई चीज़ नहीं पहुँची थी। इसलिये इर्द-गिर्द के गांव वाले ही सत्याग्रहियों की आवश्यकताओं की पूर्ति प्रफुल्लित हृदय से कर रहे थे क्योंकि वे जानते थे कि ये लोग गोआ की स्वतन्त्रता के लिए घर के सुखद वातावरण को त्याग कर और अपनी जानें हथेली पर रख कर यहां आए हैं, इसलिए भी गांव वालों ने इन लोगों की सेवा-शुश्रूषा में अपनी ओर से कोई कमी न होने दी थी।

दूसरी सुबह जब सीमा की चौकी से बिगुल बजने की आवाज़ आई तो कल्याणदास भी अपनी धोती सम्भालता हुआ खेमे की ओट से देखने लगा। गोआ मिलिटरी के नौ-जवान कील-कांटे से सुसज्जित होकर परेड कर रहे थे। परेड करते समय वे अत्यन्त सुन्दर लग रहे थे। उन सब के हाथ-पांव 'गोआनी धुन पर' एक सुनिश्चित परिपाटी के अनुसार परिचालित हो रहे थे।

संगीत का चूंकि कल्याणदास को बचपन ही से शौक़ था, इसलिए उसके जी ने चाहा कि महज़ धुन सुनने के उद्देश्य से ही वह गोआ मिलिटरी में भर्ती हो जाये। अभी ऐसा वह सोच ही रहा था कि खेमे के क़रीब से आवाज़ आई—

"वीर सैनिक ! चलिये, भोजन तैयार है।"

कल्याणदास ने पीछे मुड़कर देखा। कई गांवों के बच्चे, बूढ़े और नौजवान लड़के-लड़कियां सिर पर रोटियों के टोकरे रखे और हाथों में दाल की बालटियां उठाये चले आ रहे थे।

कल्याणदास जाकर पंडाल में बैठ गया। एक लड़के ने आकर वहीं बैठे-बिठाये उसके हाथ धुलवाये। दूसरा आया, उसने कल्याणदास के आगे खाना परोस दिया। पहले ही ग्रास पर कल्याणदास घर की रोटी भूल गया।

कुछ देर बाद एक गूजरी जो सीमा के समीप रहने के बावजूद शबाब की वादियों में क़दम रख चुकी थी, कल्याण-दास के सामने आई। उसने 'कुल्हड़' में कच्ची लस्सी उंडेल

दो। मगर जब वह लस्सी से भरा हुआ 'कुल्हड़' कल्याणदास के आगे रखने लगी तो पता नहीं क्यों कल्याणदास ने कुछ अजीब अंदाज़ से उसकी तरफ़ देखा।

उस रोज़ जो जत्था सत्याग्रह करने के लिए सीमा पर गया, गोश्रा मिलिटरी ने उसमें से सात आदमियों को गोलियों से छलनी कर दिया। चन्द घंटों बाद यह ख़बर तमाम गांवों में फैल गई। और लोगों के साथ-साथ गूजरी भी आई और सबसे पहले वह उन लोगों को देखने गई जिनके गोली लगी थी। मगर जब उसे उन लोगों में कल्याणदास नज़र न आया तो उसने चैन की सांस ली लेकिन अभी उसकी सांस उखड़ी हुई सी थी। वह ज़ख़्मियों को देखने जा रही थी कि कल्याणदास ने उसे अपने खेमे से पुकारा जो मारे दर्द के कराह रहा था। कल्याणदास की आवाज़ सुनकर गूजरी के उठते हुए क़दम रुक गये। वह ठिठकी, लजाई और शर्माई लेकिन फिर भी उसके क़दम उसको कल्याणदास के ख़ेमे में ले गये।

कल्याणदास को दर्द से कराहता देख कर गूजरी का कलेजा धक् से रह गया। कांपती हुई आवाज़ में बोली—"क्या हुआ है बाबू—कहीं चोट गहरी तो नहीं आई? क्या लगा है पेट में?"

"खाना।"

कल्याणदास ने बड़ी मुश्किल से जवाब दिया जो ज्यादा खाना खा लेने की वजह से ठीक से बोल भी न पा रहा था

फिर कुछ देर बाद—न आसमान में बादल गरजे, नाहीं

बिजली कड़की । अच्छा ही हुआ जो ऐसा न हुआ, वरना अगर ऐसा होता तो निश्चय ही सत्याग्रह के शुभ कार्य में अक्सर विघ्न पड़ता ।

कल्याणदास और गूजरी ने एक दूसरे से कई बार नाम पूछे और बताए ।

उसी रात कल्याणदास ने अपने एक दोस्त को जो पहाड़गंज मुलतानी ढाढे में रहता था, ख़त लिखा—

डीयर बलदेवराज !

जयहिंद !

तुम्हारी शादी हो गई है । मुबारिक हो ! मुझे यक़ीन है कि तुम अब तक बेकार होगे । सो डीयर, अपनी बीवी को लेकर यहां आ जाओ—हनीमून मनाने के लिए दुनिया में इससे सुन्दर स्थान और नहीं है ।

यहां का मौसम बहुत ही खुशगवार है । बड़े मजे में दिन गुज़र रहे है ।

'जय गोआ आटा-दान समिति'

तुम्हारा शुभचिन्तक

कल्याणदास

दिन गुज़रते गए । कल्याणदास भी कभी-कभी कुहनियों के बल रींगते हुए सीमा पर जाकर नारे मार आता । एक दिन

गूजरी ने उससे पूछा—"बाबू ! तुमने अब तक सत्याग्रह क्यों नहीं किया ?"

कल्याणदास यकायक उदास हो गया और बोला—"गूजरी पता नहीं सीमा के उस पार भोजन का क्या प्रबन्ध है—और फिर वहां जाकर तुम जैसी गूजरी कहां मिलेगी !"

"बाबू ! क्या सच तुम्हें मेरा इतना ज्यादा ख्याल है ?' गूजरी ने कल्याणदास के हाथ को प्यार और सम्मान से अपने हाथ में ले लिया और इल्तिजा-आमेज़ लहजे में बोली—

"बाबू, अब तो मुझसे शादी करलो ! मैं.....!" शर्म की लालियां उसके मुख पर फैल गईं। उसके होंठ कंप-कंपाये लेकिन वह कोशिश के बावजूद इससे आगे और कुछ न कह सकी।

"गूजरी !"

कल्याणदास की आवाज़ गलुगीर हो गई, उसकी आंखों में आंसू तैरने लगे और मटके में छलकती हुई लस्सी की तरह आवाज़ उसके हलक़ से बाहर निकली—

"मेरी अच्छी गूजरी ! जब तक गोआ भारत का अंग नहीं बन जाता, मैं तुमसे शादी नहीं कर सकता। अच्छा किया जो तुमने मुझे मेरा फ़र्ज़ याद दिला दिया।"

"बाबू !" गूजरी की आवाज़ हिचकियों में डूब गई।

कल्याणदास अपनी जगह से उठ खड़ा हुआ और बड़ी तेज़ी से लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ खेमे से बाहर निकल गया

बाहर घटाटोप अंधेरा था लेकिन गूजरी फिर भी उसके पीछे दौड़ी और चिल्लाई—"बाबू, रुक जाओ ! अकेले मत जाओ, नहीं तो गोरे तुम्हें गोली मार देंगे । आगे मत जाओ !"

लेकिन कल्याणदास पर गूजरी की चीख़ो-पुकार का कुछ प्रभाव न पड़ा । वह रुका नहीं, वह बढ़ता ही गया—आगे ही आगे, और आगे, यहाँ तक कि वह अपनी मां से आकर लिपट गया जो बावर्चीख़ाने में बैठी बरतन मांज रही थी ।

★

गूजरी के बच्चे ने अपनी तोतली ज़बान में पूछा—
"माँ ! क्या मैं हिजड़ा हूँ ?"

"हाँ बेटा, तेरा बाप भी हिजड़ा था जो गोआ की रणभूमि से भाग गया।"

★

शांति-दूत

एक दिन बाबू दीनानाथ बड़े उदास दिखाई दे रहे थे। मैंने सहानुभूतिपूर्ण स्वर में उदासी की वजह पूछी तो एक सर्द आह भरते बोले—

"क्या कहूँ साहब ! तबीयत हरदम बुझी-बुझी सी रहती है। अब जीवन में कोई भी आकर्षण शेष नहीं रहा। देखिए, अब न तो कोई साम्प्रदायिक झगड़ा ही होता है और नाहीं कोई विदेशी आक्रमण हमारे देश पर होता है।"

★

4530

पंचशील

नाई मेरी 'शेव' बनाते समय अपने उस्तरे से मेरे मुंह पर टक लगाता जा रहा था। मैंने शीशा उठा कर देखा तो मेरा चेहरा लहू-लुहान हो रहा था मगर मैं इस आशा में चुप रहा कि शायद कोई राही मेरी सहायता को आ जाये, लेकिन जब नाई ने मेरी ठोड़ी में एक और बड़ा-सा टक लगाया तो मैं दर्द से बिल-बिला उठा। "राजा, अब एक उस्तरा तुम मुझे दे दो! अब से मैं अपनी रक्षा स्वयं करूंगा।"

लटकता ख़ंजर

रात अंधेरी गुप थी, हाथ को हाथ सुझाई न देता था, शहर की सड़कों के किनारों पर लगे हुए बिजली के कुमकुमे बुझे हुए थे, दरख्तों के साये और ज्यादा घने, तारीक और गहरे हो गए थे। हर एक चीज़ पर एक भयंकर निस्तब्धता छायी हुई थी।

कभी-कभी कुत्तों के भौंकने की आवाज़ें उस पुरअसरार ख़ामोशी को चीर देती थी। 'कोमलजी' अपने मकान की चौथी मंज़िल के उस आरामदेह कमरे में सो रहे थे जिसकी खिड़कियां क़ब्रिस्तान की तरफ़ खुलती थीं।

अचानक गोली चलने की आवाज़ आई। 'कोमलजी' हड़बड़ाकर उठ बैठे और उन्होंने 'बैड स्विच' को दबा दिया लेकिन रोशनी न हुई। मालूम होता था कि आने वाले ने कमरे में प्रवेश करने से पहले ही बिजली का 'मेन स्विच' ऑफ़ कर दिया था।

'कोमलजी' ने जल्दी से अपने तकिये के नीचे से पिस्तौल निकाल लिया और जिस तरफ़ से क़दमों की आहट क़रीब से क़रीबतर आती हुई सुनाई दे रही थी, उस तरफ़ पिस्तौल का

रुख़ करके घोड़ा दबा दिया, लेकिन पिस्तौल चलने की खोखली आवाज़ से वह समझ गये कि आने वाले ने उनकी पिस्तौल से गोलियाँ भी निकाल ली हैं। इस पर 'कोमलजी' के होश के साथ-साथ हाथों के तोते भी उड़ गए। और जब उन्होंने यह देखा कि एक दैत्य समान भयंकर साया स्याह कपड़े पहने, नक़ाब लगाये और एक हाथ में पिस्तौल पकड़े हुए उनके उस 'आइरन सेफ़' की तरफ़ बढ़ रहा है जिसमें 'कोमलजी' का वह तीस हज़ार रुपया भी पड़ा हुआ था जो कि उनको अपनी अमर रचनाओं "काली कुँआरी कुतिया", "खोपड़ियों का संदूक़" और "ए लो, मेरे भय्या!" पर लाभ हुआ था। और फिर जब 'कोमलजी' ने देखा कि वह पुर-असरार शख़्स 'आइरन सेफ़' खोल कर उनके ख़ज़ाने को अपने थैले में डाल रहा है तो 'कोमलजी' ने अपनी तमामतर ताक़त को एकत्रित करके अपने बिस्तर पर से खेस उठा लिया और धीरे-धीरे उसकी ओर बढ़ने लगे। यकायक एक गरजदार आवाज़ ने उनके जिस्म में कंपकंपी दौड़ा दी। "ख़बरदार! अगर एक क़दम भी और आगे बढ़े तो तुम्हारे सीने को गोलियों से छलनी कर दूंगा।".....फिर उसने अपने पिस्तौल को एक बार हवा में उछाला और एक ख़ौफ़नाक क़हक़हा लगाते हुए कहा, "ओह! तो तुम खेस मेरे ऊपर फेंक कर मुझे पकड़ना चाहते हो। अरे बुद्धू! "ए लो, मेरे भय्या!" के पात्रों की तरह मैं तुम्हारे हाथों की कठपुतली थोड़े ही हूँ जो तुम मुझे अपनी मरज़ी के मुताबिक़ नचा लोगे।"

'कोमलजी' की मारे डर के घिग्घी-सी बंध गई।

"जी, तो फिर आप कौन हैं ?"

"क्या तुमने मुझे नहीं पहचाना ? मैं साहित्य की आहत आत्मा हूँ।"

"आप क्या चाहते हैं ? ये ख़ज़ाना जो आप अपने थैले में डाल रहे हैं, मैंने अपनी तीन किताबों से हासिल किया था।"

"चुप रहो," नक़ाबपोश ने चीख़ कर कहा—"मैं सब जानता हूँ। ये किताबें भी तुम्हारी अपनी लिखी हुई नहीं थीं, अगर थीं तो उस कम्पोज़ीटर की भी थीं जिसने उनको कम्पोज़ किया था।"

"आप ऐसा क्यों कर कहते हैं ?"

"मैं बिल्कुल ठीक कहता हूँ। तुमने इन किताबों के कथानक और भाषा तक कुछ पुरानी किताबों से चोरी किये थे और कुछ अंग्रेज़ी कहानियों के अनुवाद किये थे।"

"अनुवाद करना कोई पाप तो नहीं है," 'कोमलजी' ने हाथ मलते हुए पूछा।

"कौन कहता है कि यह पाप है ! रंज तो सिर्फ़ इस बात का है कि इन कहानियों में जहाँ तुम्हें अंग्रेज़ी समझ में नहीं आई, वहां तुमने कहानी के किसी पात्र से बिना मतलब गोली चलवा दी है।"

"जी, वो तो मैं सनसनी पैदा करने की कोशिश करता हूँ।"

"हूँ, तो यह बात है ! तो फिर मैं भी यहां सनसनी पैदा करता हूँ।"

और यह कहते हुए उसने 'कोमलजी' के सीने पर गोली दाग़ दी। लेकिन तत्काल जब कमरे में लगी हुई 'डे लाइट ट्यूब' रोशन हो गई तो 'कोमलजी' ने जो कि मारे डर के थर-थर कांप रहे थे और अपने सीने को दोनों हाथों से थामे, बहते हुए खून को रोकने की कोशिश कर रहे थे, सहमी हुई नज़रों से इधर-उधर देखा तो 'आइरन सेफ़' पूर्णरूपेण अपने स्थान पर सुरक्षित था। कमरे की सब चीज़ें ज्यों की त्यों अपने-अपने स्थान पर पूर्व की भांति पड़ी थीं और कमरे में कहीं भी कोई आदमी न था।

'कोमलजी' ने आहिस्ता-आहिस्ता अपने सीने पर से हाथों को हटाया जहां पर उनका ख्याल था कि उन्हें गोली लगी होगी, लेकिन वहाँ किसी फुंसी का भी निशान न था।

'कोमलजी' ने 'रायटिंग टेबल' पर से फ़ोन उठाया, डायल घुमाया और बिजली के इंक्वारी आफ़िस से नम्बर मिलाया।

"हलो ! यह बिजली क्यों बन्द हो गई थी ?"

उधर से जवाब मिला—"जी, हमने जानबूझकर सारे शहर की रोशनी बुझा दी थी।"

"लेकिन क्यों ?" 'कोमलजी' ग़ुस्से से तिलमिला उठे। "मै पूछता हूँ कि यह बेहूदा हरकत क्यों की गई थी ?"

"जी, यह हरकत-वरकत कुछ नहीं थी, यह तो बस ऐसे ही थी।"

"ओह, मैं पूछता हूँ, यह क्या थी, क्यों थी, और कैसे हुई ?"

"जी————जी।"

दूसरी तरफ़ से बोलने वाले पर जब सवालात की बौछाड़ हुई और जब उसने अपनी हँसी को होठों में क़ैद करना चाहा तो 'कोमलजी' और भी क्रुद्ध हो गये।

"ये क्या—'जी, जी' लगा रखी है ? साफ़-साफ़ कहो कि तुमने बिजली क्यों बन्द कर दी थी ?"

इस पर दूसरी तरफ़ से बोलने वाले ने संजीदगी से कहा—"जी, यह हमने मज़ाक़ किया था।"

"मज़ाक.....यह क्या मज़ाक़ है ? ठीक-ठीक जवाब दो, नहीं तो मैं जज़बात की रौ में बह कर नक़ाब लगाकर और हाथ में पिस्तौल लेकर तुम्हारे दफ़्तर में आ जाऊँगा।"

'कोमलजी' ने कमरे का एक बार फिर अच्छी तरह से जायज़ा लेते हुए जो कुछ अंधेरे में देखा था, वह टेलीफ़ोन पर कह दिया।

"आं हां, ऐसा ग़ज़ब न ढाइएगा ! यहां दफ़्तर में पहले ही काफ़ी सनसनी फैली हुई है।"

"ओह, यू शट अप !" 'कोमलजी' ने अंग्रेज़ी का यह वाक्य यूँ अदा किया जैसे उस पर साबित करना चाह रहे हों कि वह अंग्रेज़ी के उपन्यासों के श्रेष्ठ अनुवादक हैं। फिर

तश में आकर बोले—"मैं पूछता हूँ कि यह मज़ाक़ क्यों किया गया ?"

रिसीवर में हँसी की लहरें आपस में फिर एक बार टकराई और उसमें से एक आवाज़ उभरी—

"जी, बिजली बन्द करके हमने सबको 'एप्रिल फूल' बनाया था क्योंकि आज एप्रिल की पहली तारीख़ है।"

"ओह, आइ सी। आज पहली एप्रिल है।" 'कोमलजी' के अधरों पर स्मित हास्य खेल गया।

"लेकिन अभी तो रात के सिर्फ़ दो ही बजे हैं ?" उन्होंने घड़ी को देखते हुए वजह दरियाफ़्त की।

"जी हां, अभी तो सिर्फ़ दो ही बजे हैं, लेकिन तारीख़ तो बारह बजे के बाद ही बदल गई थी—आदाबअर्ज़!" और दफ़्तर के क्लर्क ने रिसीवर नीचे रख दिया।

"वो मारा," 'कोमलजी' के मुंह से अकस्मात निकल गया। और वह निर्मल हृदय के विद्यार्थियों को मानसिक, आत्मिक और सामाजिक तौर पर मार देने के लिये लिखने बैठ गये।—और सुबह हुई तो एक और पूरा उपन्यास मुकम्मल था जिसमें 'कोमलजी' ने रात वाली घटना को चित्रित किया था और इसमें भी जहाँ कहीं उन्होंने स्वयं 'बोरियत' अनुभव की, वहाँ सनसनी फैलाने के लिए कई गोलियां चलवा दीं।

उपन्यास का नाम 'लटकता ख़ंजर' रखा, हालांकि लट-

कते खंजर का इस उपन्यास के मूलभूत विचार से कोई सम्बन्ध न था। फिर भी उन्होंने अपने ख्याल के मुताबिक 'ससपेंस' को बरक़रार रखने के लिए इस उपन्यास का नाम 'लटकता खंजर' ही रखा—और उपन्यास के अंत में लिख दिया—

"अगर आप यह जानना चाहते हैं कि इस उपन्यास का नाम 'लटकता खंजर' क्यों रखा गया और इसका हीरो बोतल में पेशाब क्यों करता था तो आप मेरा दूसरा प्रकाशित होने वाला जासूसी उपन्यास 'छैल छबीला' पढ़िये।"

इसलिए अब मैं भी यही कहूँगा कि अगर यह अफ़साना पढ़ने के बाद आपकी समझ में कुछ नहीं आया हो (जैसा कि मुझे पूरा विश्वास है) तो फिर आप भी मेरा दूसरा अफ़साना 'पापड़ वाली' और 'मां का दीना' पढ़िये!

वन्देमातरम्!

पटरी पर मजमा लगाने के जुर्म में उसका चालान अदालत में पेश हुआ।

मैजिस्ट्रेट ने पूछा, "तुम्हारा नाम ?"

"जी, अमर कुंड !"

"करते क्या हो ?"

"जी, पहले या अब ?" उसने स्पष्टीकरण चाहा।

"पहले ही बताओ !"

"जी, पहले मैं एक प्रगतिशील पत्रिका का सम्पादक था।"

"और अब ?"

"जी, अब मैं चूहे मारने की पुड़ियाँ कमीशन पर बेचता हूँ !"

एक लंगड़े 'आगे बढ़ो' क़िस्म के कवि ने अपनी कविता पढ़नी शुरू की—

"ठा ठा, ठी ठी, ठू ठू ठू ठू
रेल का पहिया जाम करेंगे।"

मैंने उन्हें बीच में ही टोक दिया। "कवि महोदय, यह तो बताइए कि ये ठा ठा, ठी ठी, ठू ठू ठू ठू क्या होता है?"

मुझे समझाने के अभिप्राय से बोले, "साथी! ये वो आवाज़ें हैं जो कारख़ानों में से आती हैं।"

"तो फिर कृपया केवल अपनी कविता ही सुनाइये! ये आवाज़ें मैं किसी कारख़ाने में जाकर सुन लूंगा।"

दुष्ट और शैतान

बस में घुसते ही थके-मांदे हज़रत अवाज़ार साहब की नज़र एक ख़ाली सीट पर जा पड़ी जिस पर पण्डित अलंकारनाथ जी की कुछ पुरानी किताबों का गट्ठर पड़ा हुआ था।

अवाज़ार साहब आगे बढ़े और बड़े ही आजिज़ाना लहजे में ख़ाली सीट की तरफ़ इशारा करते हुए बोले—"बुज़ुर्ग-वारम ! क़िबला-ओ-काबा, अगर आंजनाब की तबायेनाज़ुक पर गरां न गुज़रे तो बन्दा इस ख़ला को पुर कर दे जिसे आपका क़ुर्ब हासिल है।"

पहले तो पण्डित अलंकारनाथ जी कुछ देर के लिये इन मुश्किल लफ़्ज़ों के गहरे समुद्र में ग़ोते खाते रहे और जब अपनी पूरी ताक़त से हाथ-पांव मारने के बावजूद उभर न सके तो अचानक उनकी नज़र अपनी साथ वाली ख़ाली सीट पर जा पड़ी और उन्हें ऐसा लगा कि जैसे डूबते हुए उन्हें तिनके का सहारा मिल गया हो। खुशी की लहरें उनकी चन्दन से पुती हुई पेशानी पर फैल गई और उनके सुर्ख होंठ थूक से तर होकर कनपटियों तक फैल गये।

"निश्चय ही बंधुवर ! तुम्हारे इन कमल रूपी चरणों से यह स्थान स्वच्छ तथा शुद्ध हो जाएगा। परिणामस्वरूप मेरे कोमल हृदय की सूक्ष्म भावनाओं में प्रसन्नता के सुगंधित पुष्प नृत्य करते हुए जीवन की सार्थकता का अमर परिचय देंगे।"

अब अवाज़ार साहब भी पण्डित अलंकारनाथ जी की तरह अंधेरे में छड़ी की सहायता से रास्ता तलाश करने लगे। मारे थकान के उन्हें ऐसा लग रहा था जैसे उनकी टांगें उनके जिस्म से अलग हुई जा रही हों। वह कोरा जवाब सुनने के लिए तो तैयार थे क्योंकि ऐसी हालत में वह सीट से नीचे बैठ सकते थे लेकिन पण्डित अलंकारनाथ जी के कहे हुए शब्दों के मानी समझने में जो देर लग रही थी, उसे वह बर्दाश्त न कर पा रहे थे। अवाज़ार साहब ने अपने ज़हन पर ज़ोर डालने की एक-दो बार कोशिश भी की लेकिन हर बार नाकाम रहे क्योंकि दिमाग़ पर ज़ोर तो तभी डाला जा सकता था जब पण्डित अलंकारनाथ जी का कोई भी शब्द उनके दिमाग़ में बैठता। अपनी इस बेबसी पर अवाज़ार साहब को बहुत रंज हुआ। इतने में अलंकारनाथ जी ने अपने हाथों से पुरानी किताबों के गट्ठर को सीट पर से उठाते हुए कहा—

"मित्रवर ! प्रतीक्षा किस वस्तु की है ? पधारिये ! आप व्यर्थ संकोच कर रहे हैं। मनुष्य मात्र का कल्याण तभी सम्भव होगा जब विश्व का प्रत्येक प्राणी मनुष्य मात्र के प्रति त्याग और तप की भावनाओं को हृदय में जन्म देगा एवं संकोच की भावना का समूल नाश कर देगा।"

बात तो अवाज़ार साहब अब भी न समझे थे और नाहीं उन्होंने अब की बार समझने की कोशिश की थी। बस, सीट को ख़ाली देखते ही उन्होंने अपने निढाल जिस्म को यह सोचते हुए सीट पर गिरा दिया कि अब अगर यह उठने को कहेगा तो भी न उठूँगा।

और फिर न जाने क्यों अवाज़ार साहब के मुँह से शुक्रिये का कलमा निकल गया।

"अजी, बंधुवर! यह तो प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है कि वह आश्रयरहित दीन-हीन पीड़ित प्राणियों की पीड़ाओं और वेदनाओं में सम्मिलित हो जाये परन्तु आज के युग का मानव इसके विपरीत दूसरों के दमन-शोषण एवं कुठाराघात पर तुला हुआ है।" इस पर जब हज़रत अवाज़ार मारे डर के दुबक गये तो पण्डित अलंकारनाथ जी ने उनको कंधे से पकड़ कर झिझोड़ते हुए कहा—"युग-युग से इस मायारूपी संसार का चक्र इसी प्रकार से चल रहा है परन्तु अब प्रलय निश्चय ही समीप है। अणु गोला ब्रह्माण्ड के सर्वनाश हेतु निर्मित हो गया है।"

पहले तो अवाज़ार साहब सहम गये थे क्योंकि वह समझते थे कि पण्डित अलंकारनाथ जी उन्हें सीट ख़ाली करने के लिए कह रहे हैं लेकिन जब गोले का नाम सुना तो उन्हें अपनी कमसमझी पर हँसी आ गई और ख़ुशकुन लहजे में बोले—

"जी हां, आपका फ़रमाना बजा है। आज बैन-उल-क़वामी

मसायल ज़र की ग़ैर मुसावी तक़सीम और मुल्कगीरी की हवस की वजह से मज़ीद पेचीदगियों का मुरक्का बन गये हैं। बिला शुबहा इन्सान अशरफ़-उल-मख़्लूकात है लेकिन इसके बावजूद इसकी हरकात-ओ-सकनात इन्सानियत के लिए सरीहन मुनाफ़ी हैं। ख़ाकसार तो यहां तक गोया है कि जदीद दौर के इन्सान और हैवान में इम्तियाज़ करना न सिर्फ़ कारेदारद ही है बल्कि जुए-शीर के लाने के मुतरादिफ़ है।"

हज़रत अवाज़ार साहब के मुँह से पान की थूक के कथई नन्हे-नन्हे क़तरे निकल-निकल कर पण्डित अलंकारनाथ जी की पेशानी पर चिपक रहे थे। पण्डित जी अपने मुँह पर गिरने वाले कथई थूक को तो अपनी सफ़ेद ऊनी चादर से पोंछते जाते थे मगर पेशानी पर उनका हाथ जाते हुए रुक-सा जाता था क्योंकि उन्हें डर था कि अगर उन्होंने पेशानी पर से थूक के क़तरे साफ़ किये तो उसके साथ ही उनके माथे पर लगा हुआ चन्दन का साइन बोर्ड भी मिट जायेगा।

हज़रत अवाज़ार साहब की पिछली सीट पर जो एक साहब चश्मा लगाए बैठे थे, और आगे को झुक आये और ज़ेरे-लब मुसकराने लगे। चन्द लम्हे बस में बिल्कुल ख़ामोशी तारी रही। अब आस-पास के सभी लोग इस इन्तज़ार में थे कि कब ये दोनों पण्डित और आलिम आपस में वार्तालाप करें लेकिन पण्डित अलंकारनाथ जी ने अपने मन-ही-मन इस बात का फ़ैसला कर लिया था कि अब के वह मौलाना से बात तक न करेंगे क्योंकि वह आज ही कई दिनों के बाद मुँह धो कर

आये थे और फिर से उसे पीक की फौहार से ताज़गी बख़्शने के लिए तैयार न थे। उधर अवाज़ार साहब भी अपने दिल में यह निश्चय कर चुके थे कि अब के वह पण्डित जी से बात न करेंगे क्योंकि अलंकारनाथ जी जब बोलते थे तो उनके मुँह से बदबू के भभके निकलते थे। अचानक जब पण्डित अलंकारनाथ जी की नज़र खिड़की के बाहर खेतों में हल चलाते हुए किसानों पर पड़ी तो वह चुप न रह सके। उनकी आँखों में एक ख़ास क़िस्म की चमक पैदा हो गई—ऐसी चमक जो सिर्फ़ उस वक़्त पैदा होती है जब कोई आदमी अपना मुक़ाबला किसी दूसरे आदमी से करे और अपने को दूसरे से बेहतर पाये। उबकाई लेते अलंकारनाथ जी बोले—

"बंधुवर ! प्रभु की लीला अपरम्पार है। विधाता जिसके भाग्य में निर्धनता की रेखा अंकित कर देता है, उसे तो कोई भी प्राणी मिटा नहीं सकता।"

अवाज़ार साहब ने अपनी कमीज़ के आस्तीन से नाक ढांप ली तो पण्डित जी ने उनके बाजू को ज़ोर से झटकते हुए कहा—"बंधुवर ! प्रभु की प्रबल शक्ति का जिस जाति ने भी निरादर किया है, उसका सदा ही सामूहिक रूप से विनाश हुआ है क्योंकि वह दीनबंधु, अन्तर्यामी, सर्वजगत् का पालक, अनाथों का नाथ प्रत्येक वस्तु में विराजमान है। मित्रवर ! आपके क्या विचार हैं इस विषय में ?"

अवाज़ार साहब ने तंग आकर कहा—"अरे मियाँ ! अक़्ल-ओ-ख़िर्द के नाख़ून लो ! मैं ठहरा पारसा आदमी, भला

मुझे विषय-भोग से क्या सरोकार ?" इस पर सारी बस में एक फ़रमाइशी क़हक़हा गूंजा। पण्डित अलंकारनाथ जी यह सब बर्दाश्त न कर सके और अवाज़ार साहब को अपनी लाल-लाल आँखों से घूरते हुए दांत पीस कर बोले—"अरे दुष्ट, अपनी वासना को प्रकट करते हुए तुझे लज्जा नहीं आती ! अपनी कलुषित प्रवृत्तियों का वर्णन करते हुए तुम्हारी जिह्वा में कम्पन उत्पन्न नहीं होता।"

अब अवाज़ार साहब को भी गुस्सा आ गया। "चुप बे! क्या बकता है ख़बीस ? नामुराद कहीं का ! अमा, अपनी सूरत तो देखो—लानत भेजने को भी जी न चाहे। मुरदार...!

पण्डित अलंकारनाथ जी लाल-पीले हो गए और अपनी सीट पर से खड़े हो गए। "ओ दुष्ट ! तेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। तू समस्त मानव-जाति पर कलंक है। मैं तुझे भस्म कर दूँगा।"

अवाज़ार साहब भी अपनी जगह पर खड़े हो गये और हवा में अपने मुक्के को तानते हुए बोले—"ठहर बे नामाक़ूल ! पाजी, मैं तेरा भेजा अभी पिलपिला कर दूँगा।" और यह कहते हुए जब जोश में आकर अवाज़ार साहब ने मुक्का घुमाया तो पीछे खड़े कंडक्टर की कनपटी पर जा लगा। वह सिटपिटा गया—"ओए, तुसाँ ऐ की तमाशा बना रख्या है ? छेती नाल एस बसतों थल्ले उतर जाओ, नहीं ताँ दोंहा दियाँ टंगा तोड़ देयांगा।" और यह कहते हुए कंडक्टर ने सीटी बजा कर बस रोक दी। पण्डित अलंकारनाथ जी

घबरा गए।—"हे चहुचक्री के अंगरक्षक ! तू हम ऐसे उच्च व्यक्तियों के साथ कैसा व्यवहार कर रहा है ?"

अवाज़ार साहब ने बात काटने के अंदाज़ में कहा—"अजी हज़रत, आप यह कैसी नामाक़ूल हरकत के मुरतकिब हो रहे हैं ?" मगर कंडक्टर और भी जल-भुन गया। "ओ ! मैं कहना हां, अपनी खैरियत चाहन्दे हो तो बस तों थल्ले उत्तर जाओ, नहीं ते चल्दी बस तों बाहर सुट देआँगा।"

"ऐ बस-गृहपति, कुछ तो विचार करो ! मेरे पास तो प्रवेश-पत्र भी है।"

"और ख़ाकसार टिकट लेने को तैयार है।" अवाज़ार साहब ने चमक कर कहा मगर कंडक्टर ने उनकी एक न सुनी और दोनों को जबरदस्ती नीचे धकेल दिया और बस चला दी। पण्डित जी और अवाज़ार साहब थोड़ी दूर तक चलती हुई बस के पीछे भागते रहे लेकिन जब बस उनकी पहुँच से बहुत दूर निकल गई तो वह दोनों एक दूसरे की तरफ़ मतवज्जोह हुए।

पण्डित अलंकारनाथ जी ने खा जाने वाली नज़रों से हज़रत अवाज़ार साहब को सिर से लेकर पाँव तक देखा। "तू दुष्ट है। तेरे कारण अपना तो पुस्तकों का अमूल्य भंडार भी उसी चहुचक्री में ही रह गया है।"

"अबे ! तू शैतान है," अवाज़ार साहब ने गरजदार आवाज में कहा—"नामाक़ूल, ख़बीस, मेरी नायाब छड़ी भी बस में ही रह गई है।"

★

सुरेश कुमार 'नाशाद' 'एशियाटिक बार' में शराब पी चुकने के बाद जब पूरा बिल न चुका सके तो बैरे को साथ लेकर 'बार' से बाहर आ गए। अकस्मात उधर से कैलाश कोहली आ निकला। 'नाशाद' साहब उससे लिपट कर रोने लगे। "कोहली, आज रोने का मक़ाम है। भारत का एक उत्कृष्ट प्रगतिशील कवि जिसे सआदत हसन मंटो भी प्रणाम करता था, आज इस दुनिया से उठ गया है। तुम उस के कफ़न के लिए क्या चंदा दे सकते हो ?"

कोहली कुछ देर ख़ामोश रहने के बाद दुःखी स्वर में बोला—"नाशाद साहब ! आप जानते हैं कि मैं एक लोहे की दुकान पर नौकर हूँ, इसलिए मैं आपके कफ़न में ठोंकने के लिए कीलों का चन्दा दे सकता हूँ।"

★

★

रिक्शा पुलरों के एक जलसे में कामरेड कुमार, अल्लामा इक़बाल की एक नज़्म "उठो मेरी दुनिया के ग़रीबों को जगा दो," उच्च मधुर स्वर में अलाप रहे थे।

सन्तू ने बीड़ी सुलगाते हुए दीन मुहम्मद से कहा—

"कामरेड की आवाज़ में ग़रीबों के लिए कितना दर्द है!"

"अरे दर्द-वर्द कुछ नहीं—ज़्यादा घी खाने की वजह से साले का गला बैठा हुआ है।"

★

खुरदरी उँगलियाँ

रोज़-रोज़ के झगड़ों से तंग आकर मोहन की माँ जब अपने मैके जाने लगी तो उसके पति ने महज़ उसे तंग करने की ग़रज़ से मोहन को उसकी गोद से ज़बरदस्ती छीन लिया था—जिसका मोहन को अब बड़ी शिद्दत से अहसास था। अगरचे अब भी वह बच्चा ही था, छठी जमात में ही पढ़ता था, फिर भी वह ज़हनी तौर से क़रीब-क़रीब बालिग़ हो चुका था।

मोहन का बाप अगर चाहता तो वह उसकी माँ की ममता की कमी को अपनी शफ़क़त से पूरी कर सकता था लेकिन वह तो खुद ही उससे खिंचा-खिंचा-सा रहता और उस पर हरदम बिगड़ता रहता था क्योंकि उसकी ज़िद्दी तबीयत और चिड़चिड़ेपन के आगे मोहन की माँ ने अपने बच्चे से अलग रहने के बावजूद अब तक अपना सिर नहीं झुकाया था—और इस तरह वह अपनी पत्नी के होते हुए भी पूरे सात साल से उससे अलग रह रहा था। ग़ालिबन इसी वजह से मोहन के लिये अब उसके दिल में कोई जगह न रही थी और वह प्यार के लतीफ़तरीं जज़बात से क़तई तौर पर आरी हो गया था।

उधर मोहन के दिल में यह तमन्ना हर वक़्त करवट लेती रहती कि कोई उसे अपने प्यार भरे सीने से भींचकर उसके थलथलाते हुए गालों के चटाख़-चटाख़ प्यार ले लेकिन जब भी वह अपने बाप की जानिब प्यार की भूखी नज़रों से देखता तो वह उसे एकदम झिड़क देता—'क्यों बे उल्लू के सगे ! यह क्या हर वक़्त आँखों में आँसू भरे मेरी तरफ़ ताकता रहता है ?' उस वक़्त मोहन ख़ौफ़ से सहम जाता मगर जब उसे तनहाई के कुछ लम्हे मयस्सर आते तो वह बिलख-बिलख कर रो देता। हिचकियों और सिसकियों के संगम पर खड़े होकर सोचता कि उससे कौन ऐसा क़ुसूर सरज़द हुआ है जिसकी उसे इतनी बड़ी सज़ा दी जा रही है, लेकिन जब समझ में कुछ भी न आता तो बस, फूट-फूट कर रो देता।

जब कभी वह हिसाब का कोई मुश्किल सवाल हल कर लेता या अपना सबक़ ज़बानी याद कर लेता तो उसका दिल बेअख़्तियार चाहता कि उसका बाप भी दूसरे लोगों की तरह प्यार से अपनी गोद में लेकर उससे पूछे कि, 'बोलो बेटा, तुम्हें किस चीज़ की ज़रूरत है ?' तो वह झट से कहदे कि 'पापा, मुझे मेरी माँ ला दो !' मगर अब तक उसकी ज़िन्दगी में, जब से उसने होश सम्हाला था, ऐसा कोई मौक़ा न आया था जब उसके बाप ने प्यार से उसकी ख़ाली पीठ ही थपथपायी हो। इस तरह मोहन अक्सर ख़याली घरौंदे बनाता और वो थोड़ी देर ही क़ायम रहते कि फ़ौरन ही

उसके किसी और ख़ौफनाक ख़याल का तेज़ोतुंद धारा उनके वजूद को ही मिटा देता।

एक दिन वह अपने स्कूल से घर आ रहा था कि रास्ते में ख़रबूज़े के छिलके पर से उसका पांव फिसल पड़ा और उसका घुटना छिल गया। लंगड़ाता हुआ घर पहुँचा तो उसके बाप ने मरहम-पट्टी करने की बजाय उलटा उसे मारे तमाचों और घूंसों के नीला कर दिया। 'नामुराद ! बद-बख़्त ! बाज़ार में अंधा होकर चलता है। गिरता भी है तो ख़रबूज़े के छिलके पर से, और फिर मार क़िस्मत की कि ऊपर से कोई ट्रक भी नहीं गुज़रती।' मोहन ने अपने नन्हे-नन्हे हाथों की मख़मली उँगलियों से अपने गालों को टटोला तो उन पर उसके बाप के भारी हाथों की सख़्त खुरदरी और अकड़ी हुई पांचों की पांचों उँगलियां उभरी हुई थीं। गालों पर उन उभरी हुई उँगलियों को गिनते हुए मोहन को याद आया कि जब नरेन्द्र सीढ़ियां चढ़ता हुआ गिर पड़ा था तो उसकी माँ की आँखों से आँसुओं का एक दरिया-सा उमड़ आया था, बाप की आवाज़ गलूगीर हो गई थी और फिर उन दोनों ने कितनी लगन और मेहनत से नरेन्द्र की दिन-रात तीमारदारी की थी। इस तरह नरेन्द्र से अपनी हालत का मवाज़ना करते हुए वह फिर ज़ारोक़तार रोने लगा, और तब तक रोता रहा जब तक कि उसकी आँखों से आँसू ख़ुश्क न हो गये।

उधर मोहन का बाप अब दूसरी शादी करके अपनी

पहली पत्नी और ससुर को नीचा दिखाना चाहता था—इसी लिये वह मोहन को रास्ते की दीवार समझता था क्योंकि उसका ख़याल था कि अगर यह लड़का न होता तो यक़ीनन बहुत से ऊँचे घरानों से उसके लिये पैग़ाम आते लेकिन अब लोग सिर्फ़ उसकी वजह से ही ऐसा करना मुनासिब नहीं समझते थे। इसीलिये वह अपने इस इकलौते बच्चे के हाथों बड़ा परेशान रहता था और उसे मामूली-सी ग़लती पर भी कड़ी-से-कड़ी सज़ा देता।

बाप की इस तुंदख़ुई और सख़्तगीरी ने मोहन से उसकी मासूमियत, भोलापन और उसका चुलबुलापन छीन लिया था—और बचपन में ही उसे फ़ितरतन बूढ़ा और मतीन बना दिया था।

मोहन हैरान था कि उसके बाप की उँगलियाँ इतनी खुरदरी क्यों हैं? चुनाँचे एक रात जब उसका बाप बाहर छत पर सो रहा था तो वह दबे पाँव अपने बिस्तर पर से उठा और चाँदनी में अपने बाप की उँगलियों को बड़े ग़ौर से देखने लगा। हाथ बड़े भारी और मोटी-मोटी उँगलियाँ उसे वाक़ई बड़ी खुरदरी मालूम हुई। उसके दिल ने चाहा कि वह एक बार क्यों न उनको छू कर ही देख ले? और यह ख़याल आते ही उसने अपने नन्हे-नन्हे हाथों की गुलाब की पँखड़ियों की तरह नाज़ुक उँगलियों से अपने बाप के एक हाथ की उँगलियों को छुआ ही था कि उसका बाप जाग गया और उसने उसी हाथ से एक भरपूर थप्पड़ उसके मुँह पर दे

मारा। 'बोल, यह क्या कर रहा था...हैं ?' और सवाल खत्म होने से पहले ही मोहन के दूसरे गाल पर भी पांचों उँगलियां उभर चुकी थीं और जब उसने डरते-डरते दोनों हाथों से अपने दुखते हुए और दर्द से चटखते हुए गालों को मस किया तो उसे उनमें से शफ़क़त से आरी अपने बाप की खुरदरी उँगलियों का खुरदरापन महसूस हुआ।

मोहन उस वक़्त बुरी तरह पिटने के बावजूद रोया नहीं, उस हालत में और ज़्यादा पिट जाने का अन्देशा था क्योंकि उसका बाप उसको पीटते वक़्त अक्सर कहा करता था, 'क्यों बे, रोता क्यों है ?' और कभी तो सिर्फ़ इस वजह से ज़्यादा पीटा जाता था कि पिटते वक़्त वह रोया क्यों था ? ऐसा इसलिये कि मोहन का बाप नहीं चाहता था कि महल्ले में दूसरे लोग भी जान जायें कि वह अपने बच्चे से छुटकारा पाना चाहता है और उसकी मां की अदममौजूदगी में उस पर तशद्दद करता है क्योंकि ऐसी हालत में उसे दूसरे लोगों की रही-सही हमदर्दियाँ भी छिन जाने का खटका था—अपने बिस्तर पर आकर मोहन इस तरह गिर पड़ा जैसे किसी ने उसे पहाड़ की किसी बहुत ऊँची चोटी से धक्का दे दिया हो—चादर ओढ़ कर वह फ़ूट-फ़ूट कर रो दिया। हिचकियाँ भरते हुए उसके दिल ने कहा कि काश कोई इस वक़्त ऐसा होता जो उसके सर को अपनी गोद में रखकर अपनी नर्म-नर्म रेशम की तरह मुलायम उँगलियों से सहलाता। फिर उसने सोचा कि वह मर ही क्यों न जाय ! अब यह ज़िल्लत और अज़ीयत

उसकी बर्दाश्त के बाहर थी लेकिन उसी वक़्त उसने महसूस किया कि वह मर नहीं सकेगा क्योंकि मौत की हौलनाकी से उसे बहुत डर लगता था, उन खुरदरी उँगलियों से भी ज्यादा। उसे याद आया कि किस तरह उसका एक हमजमात जमना पर नहाने गया था और वहीं डूब कर मर गया था तो किस बुरी तरह कछुओं ने उसके आधे से ज़्यादा मुँह को नोच डाला था, उसका चेहरा कितना डरावना हो गया था ! मौत के इस भयानक तसव्वुर से ही वह कांप गया और फिर उसे उस रात की याद आई जब उसे बड़ी शिद्दत की प्यास लग रही थी लेकिन अपने बाप के जाग जाने के डर से तमाम रात वह प्यासा ही अपने बिस्तर पर आहिस्तगी से करवटें लेता रहा था। मौत का ख़याल उसे उस वक़्त बिल्कुल ऐसा लगा जैसे उसने बिना पानी पिये वह रात काटी थी। उसने अपना जी कड़ा करके फिर सोचा कि भला वह बिना प्यार लिये कैसे मर सकेगा जब कि वह बिना प्यास बुझाये सो भी नहीं सका था। उसके दिल ने फिर चाहा कि काश उसका बाप उसे सिर्फ़ एक बार प्यार से पुकारे, मुहब्बत से उसके गालों पर उन उभरी हुई उँगलियों को चूमे और फिर जब चाहे अपने मज़बूत हाथों से उसका गला घोंट दे।

'मगर ऐसा कब होगा ? कैसे होगा ?' और इस सवाल के पैदा होते ही उसके ज़हन में एक तजवीज़ आ गई। 'हाँ, यह ठीक है,' चादर से आँसू पोंछते हुए उसने इतमीनान की हिचकी ली।

सूरज निकलने से पहले ही उसने बड़ी आहिस्तगी से अपनी चारपाई से अदवायन की रस्सी निकाल ली और कमरे में जाकर एक कोने में पड़ी हुई बड़ी मेज़ को छत वाले पंखे के कुण्डे के नीचे सरका लिया और उस पर सुराही रखने वाला छोटा स्टूल टिका दिया। फिर उस स्टूल के ऊपर चढ़ कर बड़ी मुश्किल से रस्सी का एक सिरा छत में लगे हुए कुण्डे से बांध दिया और उसका फ़ालतू हिस्सा ब्लेड से काट कर नीचे फेंक दिया। तब उसने रस्सी के दूसरे सिरे में एक बल डालकर हलका-सा बना लिया। इस तरह जब फन्दा तैयार हो गया तो उसने उसको गले में डाल लिया।

मोहन को इस बात का पूरा यक़ीन था कि जब उसका बाप अपने बिस्तर से उठेगा और चारपाई से उसे और अदवायन को ग़ायब पायेगा तो भागा हुआ इधर इस कमरे में ज़रूर आयेगा और तब वह अपने बाप के क़दमों की आहट सुनते ही रस्सी को दोनों हाथों से कसके पकड़कर और सहारा लेते हुए अपने पांव स्टूल पर से ज़रा ऊपर उठा लेगा और जब उसका बाप उसे फन्दे पर इस तरह झूलते हुए देखेगा तो एकदम मोम की तरह पिघल जायेगा, उसे अपने सीने से भींचकर उसके गालों पर बेशुमार प्यार सब्त कर देगा। उसकी आंखों से प्यार और मुहब्बत के जज़बात आंसू बन-बन कर छलक पड़ेंगे, तब उसकी वह खुरदरी उँगलियां रेशम की तरह मुलायम और नर्म हो जायेंगी, उन पर मख़मल के रोयें निकल आयेंगे और फिर वे उसके गालों को सहलायेंगी जिस तरह वह ख़ुद रोज़ रात को सोते वक़्त अपने

तकिये के रेशमी ग़िलाफ़ में अपना नन्हा-सा हाथ डालकर सहलाया करता था। ऐसा सोचते हुए मोहन को यूँ महसूस हुआ जैसे उसे सब कुछ मिल गया हो और उसकी प्यार की भूखी और शफ़क़त से सूखी रूह को मुहब्बत के चश्मे से सैराब कर दिया गया हो। मोहन ने सोचा कि ऐसी हालत में उसका बाप कितना अच्छा हो जायेगा। फिर एकदम वह चौंका कि अभी तो कुछ हुआ ही नहीं, अभी तो उसका बाप बाहर छत पर सो रहा है। तो फिर ? तो फिर क्यों न वह एक बार उस रस्सी पर झूलकर ही देख ले ताकि कहीं ऐसा न हो कि उसकी कोई गांठ ढीली रह गई हो और ऐन वक़्त पर जब वह उस पर झूले तो धड़ाम से नीचे फ़र्श पर आ रहे और उसकी सारी मेहनत यूँही चली जाये।

चुनाँचे उसने फन्दे को अपनी गरदन में ठीक से घुमाया, गले की जो जगह उभरी हुई थी और जहां पर उसे रस्सी चुभ रही थी, वहां पर उसने तकिये की रुई का एक फाहा रखा और फिर दोनों हाथों से रस्सी को बड़ी मज़बूती से पकड़ कर उसने एक बार झूलने की ग़रज़ से अपने पँजों को जो थोड़ा-सा ऊपर उठाया तो पांव के अँगूठे की ठोकर से स्टूल मेज़ पर से नीचे गिर गया और मोहन एक ज़बरदस्त झटके के साथ फन्दे पर लटक गया।

उसने बहुतेरा चाहा कि वह गला फाड़कर चिल्लाये लेकिन आवाज़ उसके हलक़ में दब कर रह गई और एक लम्हे के लिए उसे ऐसा लगा जैसे उसके बाप की खुरदरी उँगलियों का हलक़ा बहुत तंग हो गया हो। ❀ ❀ ❀

★

नाई जब मेरी आधी हजामत बना चुका तो बोला—"बाबू जी, बाक़ी हजामत अब किसी और से बनवा लीजिये !"

मैंने जिस्मित मुद्रा में प्रश्न किया, "क्यों भई, तुम्हें क्या हो गया ?"

"जी ! अब हजामत बनाने का मेरा मूड नहीं है," उसने अपना सामान चमड़े के थैले में डालते हुए उत्तर दिया ।

"अरे, तेरा मूड नहीं है तो अब मैं यह आधा मुंडा हुआ सिर कहाँ ले कर जाऊं ?"

"जी, अब यह मैं क्या बताऊं ? मेरा तो मूड ही चला गया है ।"

"तो तुम्हारा मूड कब आयेगा ?" मैंने चमक कर पूछा ।

"जी, यह तो मूड की बात है । आये, आये और न आये तो नाहीं आये ।"

और वह अपना सामान उठा कर सामने सिनेमा के अन्दर चला गया ।

★

रामा गूजर अपनी एक भूरी भैंस को दोह रहा था। मुझे देखते ही बोला—

"बाबू जी, आज आपको दूध नहीं मिलेगा।"

"अरे भई, क्यों ?"

"जी, आज आप वाली भैंस का मूड नहीं है।"

आह ! बकरा

"बेटा बैकुंठनाथ, कहाँ हो ?"

"पिताजी, मैं हवन करने के बाद बकरे से खेल रहा हूँ। आप क्या कर रहे हैं ?"

बैकुंठनाथ का बाप बावर्चीखाने से चिल्लाया—"मैं रोटियाँ सेंक रहा हूँ।"

और जब तवे पर उसने रोटी फेंकी तो उसकी उँगली जल गई और वह तिलमिला उठा।

"बैकुंठनाथ, बकरे को बांध कर अन्दर आओ !"

"जो आज्ञा पिताजी ! अभी आया।"

और जब बैकुंठनाथ हाथ-मुँह धो कर बावर्चीखाने में आया तो उसके बाप ने बेलन को रोटियों की चँगेर में फेंकते हुए दर्द भरी आवाज़ में कहा—

"बैकुंठ बेटा ! तू कब तक अपने बूढ़े बाप से यूँही रोटियाँ पकवाता रहेगा ?"

"पिताजी, मैं आपका अभिप्राय नहीं समझा !"

इस पर बाप ने चँगेर में से बेलन उठा लिया और उसे

अपनी हथेली पर खड़ा करने की कोशिश करते हुए बोला—

"दुःख भी तो इसी बात का है, बेटा कि तूने अब तक इस बात का मतलब समझने की कभी कोशिश ही नहीं की ।" लेकिन बैकुंठनाथ बाप की बात को अब भी न समझा और तुनक कर बोला—

"पिताजी ! मेरी आत्मा अशांत हो गई है, इसलिए मैं हवन करने जा रहा हूँ ।"

"तू हवन करने जा रहा है और मैं किसी होटल में तंदूरिए की नौकरी करने जा रहा हूँ ।" उसके बाप ने चीख़ कर कहा ।"यह रोज़-रोज़ का भाड़ अब मुझसे नहीं झोंका जाता ।"

बेटे का दिल मोम की तरह नर्म और दर्पण की भाँति साफ़ था । उसकी आँखों में आँसू उमड़ आए और भर्रायी हुई आवाज़ में बोला—

"पिताजी ! यह आज आपको क्या हो गया है ? सच कहता हूँ, आपके क्रोधित होने का कारण मेरी समझ में नहीं आया ।"

"मेरे बैकुंठ !" बाप का गला भी भर आया, फिर भी उसने चुप रहना मुनासिब न समझा क्योंकि वह गर्म लोहे को चोट से अपनी इच्छा के अनुसार मोड़ लेना चाहता था । अपने और उसके आँसू पोंछते हुए बोला—

"बैकुंठनाथ ! तेरी उम्र पच्चीस वर्ष की हो गई है। अब तो शादी कर ले।"

"नहीं पिताजी !" बैकुंठनाथ ने बाप के हाथ से बेलन को ले कर फिर से चँगेर में रखते हुए कहा—

"मुझे तो बाल-ब्रह्मचारी रहना है।" उसके स्वर में प्रण-दृढ़ता थी जिससे प्रभावित हुए बग़ैर उसका बाप भी न रह सका।

"यह तो बड़ी अच्छी बात है। लेकिन बेटा ! आज के युग में कोई भी बाल-ब्रह्मचारी नहीं रह सकता।"

"यह आप क्या कह रहे हैं, पिताजी ? आर्य वीर हो कर आपको इतना भी ज्ञान नहीं कि स्वामी जानकीदास सारी उम्र बाल-ब्रह्मचारी रहे थे !"

बाप को भी ताव आ गया। कल का छोकरा उनको पढ़ाने जा रहा था, कठोर स्वर में बोला —"स्वामी जी की बात छोड़ो, बैकुंठनाथ ! वह तुम्हारी तरह यौवनावस्था में बकरे से नहीं खेलते थे—फिर उनका तो कोई घरबार भी नहीं था और नाहीं उनका कोई बाप मेरी तरह रोटियाँ ही पकाता था।"

बाप कुछ क्षण मौन रहने के पश्चात् फिर कोमल स्वर में बेटे को समझाने लगा—

"तुम नहीं जानते, मेरे बच्चे ! अगर स्वामी जी को भी कोई साहूकार गोद ले लेता तो वह भी अपने बाप के परलोक सिधारने पर विधवाश्रम से कोई औरत ले आते।"

बैकुंठनाथ अपनी ज़िद पर डट गया। "चाहे कुछ भी हो, पिताजी, मैं तो ब्रह्मचारी ही रहूँगा।"

"अरे, कौन कहता है कि तू ब्रह्मचारी न रह!" बाप ने मुसकराते हुए कहा, "आख़िर मैं भी तो तुम्हारे पैदा होने के बाद ब्रह्मचारी हो गया था। आज अगर तेरी स्वर्गीय माँ जीवित होती तो मैं तुम्हे उससे पुछवा देता।"

बाप ने फिर से बेलन उठाने के लिए हाथ जो आगे बढ़ाया तो बैकुंठनाथ ने उनका हाथ पकड़ लिया, "मगर पिताजी, मैं शादी नहीं करूँगा।"

बेटे के मुँह से फ़ैसला सुन कर बाप ग़ुस्से से फट पड़ा। "तू शादी नहीं करेगा तो मैं भी इस घर में नहीं रहूँगा।" यह कह कर वह रसोईघर से भिन्नाया हुआ बाहर आया और धमकी आमेज़ लहजे में बोला—"बैकुंठनाथ! आज से तेरे-मेरे अटूट-सम्बन्ध में विच्छेद हो गया और मैं चला—वनों की ओर!"

बैकुंठनाथ अपनी जगह से न हिला। अब उसका हाथ बेलन पर रखा हुआ था और वह अपने अँगूठे के नाख़ून से बेलन पर लगे हुए सूखे आटे को खुरच रहा था।

बाप ने सीढ़ियाँ उतरते हुए सोचा कि क्यों न एक बार और वह अपने बेटे को समझा देखे। चुनाँचे वह फिर रसोई-घर में आ गया और विनम्र स्वर में बोला, "बेटा! अंतिम बार तुम्हें समझाने आया हूँ कि मेरी ख़ातिर शादी कर लो!"

"पिताजी !" बैकुंठनाथ चीख उठा। "इस वृद्धावस्था में आपके लिये शादी करूँ, यह कहते हुए आपको लज्जा नहीं आई ?"

अपने ब्रह्मचारी बेटे के मुँह से अपने प्रति ऐसे शब्द सुन कर बाप पर बिजली-सी टूट पड़ी और वह मूर्छित हो कर बावर्ची-खाने में ही धड़ाम से गिर गया। बैकुंठनाथ पहले बाप की तरफ़ दौड़ा और फिर पानी लेने के लिए रसोईघर में घबराया हुआ जब इधर-उधर भागा तो बदहवासी के आलम में पानी के गिलास की जगह पहले वही बेलन उठा लिया, फिर गिलास में घड़े का ठण्डा पानी उंडेल कुछ देर तक अपने बाप के मुँह पर उसके छींटे देता रहा। जब बाप को होश आया तो उसने हाथ के इशारे से बैकुंठनाथ को समीप आने के लिए कहा।

"पिताजी ! मुझे क्षमा कर दीजिए। मैं आपका अभिप्राय नहीं समझा था।" और फिर अपने कान को बाप के मुँह के समीप ले जाकर उसने नम्रतापूर्वक कहा, "आपने मेरी भूल को क्षमा कर दिया है ना ?"

जवाब में उसका बाप केवल मुसकरा दिया और क्षीण स्वर में बोला—"देखा, तुम्हारी बुद्धि कितनी कलुषित हो गई है !"

"खैर, अब आप कहिए, मेरे लिये क्या आज्ञा है ?"

और सचमुच एक आज्ञाकारी बालक की भाँति बैकुंठ ने अपने बाप की मरज़ी के मुताबिक़ अन्नपूर्णा देवी से शादी कर

ली लेकिन वह दुलहन के पास न गया। वह बेचारी पहले तो अपनी नयी-नवेली आकाँक्षाओं, मदमाती उमँगों एवं मीठी कल्पनाओं को अपनी लज्जा के स्वर्णिम आँचल में समेटती रही लेकिन जब काफ़ी रात गए तक बैकुंठनाथ उसके कमरे में न आया तो उसने खुद ही कमरे का दरवाज़ा खोल दिया। और जब हवन की सुगन्ध उसकी नासिका में प्रविष्ट हुई तो वह सब समझ गई क्योंकि वह भी एक आर्य कन्या थी और ऐसे ही वातावरण में उसका पालन-पोषण हुआ था—और फिर उसे अपनी माँ की बताई हुई सब बातें याद थीं क्योंकि उसके बाप ने भी उसकी माँ के साथ कभी ऐसा ही व्यवहार किया था।

अन्नपूर्णा ने फूलों की सेज को अपने अरमानों की तरह मसल दिया और वह खुद भी कमरे में बने हुए हवन-कुण्ड में सामग्री डाल कर हवन करने लगी।

बैकुंठनाथ के बाप ने जब बहू को भी हवन करते देखा तो उसे उस पर बड़ी ही दया आई लेकिन वह सब्र के घूँट भर कर रह गया क्योंकि वह इसके अतिरिक्त कर भी क्या सकता था। बेचारा मजबूर था!

दूसरे दिन सुबह-सवेरे अन्नपूर्णा अपने बिस्तर से उठी तो बैकुंठनाथ को ढूँढने लगी। घर के सब कमरे छान मारे मगर उसका कहीं पता न चला। अन्नपूर्णा का दिल बैठ गया क्योंकि उसे डर था कि कहीं बैकुंठनाथ घर से भाग ही न गया हो। अभी उसका दिल ऐसे ही भयानक विचारों में

तल्लीन था कि अकस्मात उसकी दृष्टि सीढ़ियों के नीचे एक चटाई पर पड़ गई जिस पर बैकुंठनाथ लंगोट बांधे बेसुध सोया पड़ा था। अन्नपूर्णा की जान में जान आयी। आगे बढ़ी और उसने बैकुंठनाथ के चेहरे को बड़े ग़ौर से देखा तो उसे वह स्याहीचूस याद आ गया जो होली के दिनों में एक बार उससे लाल रंग की बालटी में गिर गया था। फिर वह बैकुंठनाथ के सिर को अपनी खूबसूरत लम्बी-लम्बी उँगलियों से सहलाने लगी। बैकुंठनाथ यूँ तड़प उठा जैसे बहुत से बिच्छुओं ने उसे डस लिया हो।

"ओ, अन्नपूर्णा तुम !"

"जी !"

उसने लज्जा से अपना सिर झुका लिया। फिर न जाने क्यों बैकुंठनाथ एकदम फट पड़ा—"देखो जी ! कान खोल कर सुन लो, यह आसन है। यहाँ पर तुम भविष्य में कदापि न आना—समझीं !"

"जी !"

"अब तुम जा सकती हो।"

और जब वह जाने के लिए मुड़ी तो बैकुंठनाथ ने उसे फिर पुकारा, "सुनो ! आज से खाना पिताजी के स्थान पर तुम पकाया करोगी —समझी !"

अन्नपूर्णा ने मुड़ कर नहीं देखा। बस, वहीं खड़े-खड़े आहिस्ता से "जी" कह दिया और वह सोच की सीढ़ियाँ चढ़ने लगी कि क्या उसे खाना पकाने के लिये ही ब्याहा गया

है ? यह क्या धर्म है ? और यह कैसा आदर्श ? इतने में उसका बाप आ गया। बेटी को देखते ही उसकी परेशानी को भाँप गया और उसके सिर पर बड़े प्यार से हाथ फेरते हुए कहने लगा, "देखो बेटी, अगर तुम मोक्षप्राप्त करना चाहती हो तो अपने अस्तित्व को धर्म के हवन-कुण्ड में भस्म कर दो और अपने पति की निष्काम भाव से सेवा करो !"

अन्नपूर्णा जानती थी कि उसकी माँ को भी ऐसा ही कहा गया था। फिर भी न जाने क्यों उसने अपने बाप की नसीहत को सब्र के दामन में बांध लिया और वह उस पर आचरण करने लगी।

उधर बैकुंठनाथ बाप के मना करने के बावजूद प्रतिदिन बकरे के साथ घण्टों खेलता रहा। उसका बकरा अगरचे अब बूढ़ा हो चुका था, फिर भी जब बैकुंठनाथ अपनी हथेली से बकरे के सिर को परे धकेलता तो वह अपनी पिछली टांगों पर बिल्कुल सीधा खड़ा हो जाता और फिर बड़े ज़ोर से टक्कर मारता था। अब तो बकरे की यह हालत हो गई थी कि जो कोई भी उसके क़रीब से गुज़रता, वह उसे ज़ोर की टक्कर मारता था। कई लोगों ने बैकुंठनाथ के बाप से बकरे की इस हरकत की शिकायत भी की थी।

एक रोज़ बैकुंठनाथ अपने मकान की छत पर खड़ा नीचे गली में खूंटे से बंधे हुए अपने बकरे को देख रहा था कि इतने में एक आदमी बकरे के पास से गुज़रा। बकरे ने जो अपनी अगली टांगें ऊपर उठाईं तो वह आदमी बड़ी फुर्ती से

पीछे हट गया लेकिन जब बकरे ने अपनी पूरी ताक़त से टक्कर मारी तो वह ख़ाली गई। परिणाम यह हुआ कि इस ज़ोरदार झटके से उसके गले की रस्सी टूट गई। बस, फिर क्या था ! बकरा दौड़ता हुआ सामने ही घास पर चरती हुई बकरी के पास चला गया।

बैकुंठनाथ इससे आगे देखने की ताव न ला सका और वह अपने बकरे को पकड़ने के लिये बड़ी तेज़ी से इकट्ठी दो-दो तीन-तीन सीढ़ियां उतरने लगा। नीचे से उसकी पत्नी पानी की बालटी उठाये हुए सीढ़ियाँ चढ़ रही थी। सीढ़ियों में अचानक जब बैकुंठनाथ ने अन्नपूर्णा को देखा तो उसे ऐसा लगा कि वह भी एक ब्रह्मचारी का बकरा है जो रस्सी तुड़वा कर बकरी के पास आ गया है। बस, फिर क्या था। बैकुंठनाथ ने न आव देखा, ना ताव, अन्नपूर्णा को टक्करें मारता हुआ सीढ़ियों के साथ वाले कमरे में ले गया।

थोड़ी देर बाद जब बकरा पुनः अपने खूंटे पर आ गया तो बैकुंठनाथ ज़ारोक़तार रोने लगा। उसे रोता देख कर अन्नपूर्णा मुसकराने लगी और लज्जा के 'पल्लू' को मुँह में ठूंस कर उस आनन्दित कर देने वाली मुसकान को अपनी आत्मा में घोलने लगी। फिर लजाकर, भिंची हुई आवाज़ में और आश्चर्ययुक्त स्वर में बोली—"आप रो क्यों रहे हैं ? भला इसमें रोने की कौनसी बात है ?"

ग़ुस्से से बैकुंठनाथ की मुट्ठियाँ भिंच गई। "अन्नपूर्णा, तुम

नहीं जानतीं कि यह सब दोष बकरे का है।" सिसकियों के कारण बैकुंठनाथ की आवाज़ काँप रही थी। "हे देवि! मैं इस ब्रह्मचारी-विनाशक बकरे को क़साई के हवाले करने जा रहा हूँ।" और यह कहते हुए बैकुंठनाथ बड़ी तेज़ी से सारी सीढ़ियां उतर गया।

★

वह जाल फैला कर बटेरें पकड़ा करता था लेकिन एक दिन दो उल्लू पकड़ लाया। मैंने दाम पूछे तो कहने लगा कि दोनों के पाँच-पाँच रुपये लगेंगे।

"अरे, यह उल्लू तो बिल्कुल छोटा-सा है!" मैंने उसकी तरफ़ संकेत करते हुए पूछा —"क्या इसके भी वही दाम होंगे जो बड़े के हैं?"

उसने ताजराना लहजे में जवाब दिया—"बाबू जी! इसके छोटे होने पर मत जाइए। बड़ा तो सिर्फ़ उल्लू ही है लेकिन यह छोटा उल्लू का पट्ठा भी है।"

★

★

प्रताप के साथ मेरे बड़े घनिष्ठ सम्बन्ध थे लेकिन उससे मिले हुए मुझे पूरे तीन साल हो गए थे।

एक दिन वह इत्तिफ़ाक़ से मुझे खारी बावली में मिल गया। मैं बड़ी मुश्किल से उसे पहचान पाया। "क्या बात है प्रताप, बड़े कमज़ोर हो गए हो?"

प्रताप थकी हुई आवाज़ में बोला—"यह सारा फ़ितूर ख़ालिस घी का है।"

"ख़ालिस घी का?" मैं चौंका, "अरे यार! ख़ालिस घी खाने से तो आदमी दुगना हो जाता है।"

"मेरे भाई, मैं घी खाता नहीं रहा बल्कि घी के कनस्तर ढोता रहा हूँ।"

★

मैं ने लिखना छोड़ दिया है

मैं बावर्चीख़ाने में बैठा रोटी खा रहा था कि नन्दकिशोर 'लाइनपार' हमारे घर आ धमका। नन्दकिशोर चूँकि 'तीस हज़ारी' पर स्थित रेलवे पुल के दूसरी तरफ़ रहता है और उसके घर जाते वक़्त रेलवे लाइनों में से गुज़रना पड़ता है, इसलिए नन्दकिशोर ने अपना उपनाम 'लाइनपार' अख़्तियार कर रखा है। हाँ, तो 'लाइनपार' मुझे खाना खाते देख कर जूतों समेत बावर्चीख़ाने में आ गया और मुहब्बत जतलाने की ग़र्ज़ से एक ज़ोरदार धप्पा मेरे कंधे पर मारते हुए बोला—

"नारंग साहब ! मैंने लिखना छोड़ दिया है।"

मैं एकदम ख़ुशी से उछल पड़ा, "क्या !" रोटी का वह ग्रास जो अभी मेरे मुँह और गले के बीच था, मेरे तालू से चिपक गया जिससे मुझे "आच्छू" आ गया। मेरी आंखें तनिक बाहर आ गईं और डबडबा आईं। 'लाइनपार' ने इसका कुछ और ही मतलब लिया और मेरे होठों से पानी का गिलास लगाते हुए बोला, "आपको मेरे इस फ़ैसले पर बड़ा दुःख हुआ है ना ! मैं तो पहले ही जानता था कि साहित्यिक क्षेत्रों में जब यह बात पहुँचेगी कि मैंने लिखना छोड़ दिया है

तो वहाँ निश्चय ही मृत्यु का-सा वातावरण उत्पन्न हो जायेगा।"

"हाँ भई ! तुम्हारी साहित्यिक सेवाओं के कारण ऐसा होना स्वाभाविक ही है।" मैंने अपनी दिलीखुशी पर पुरदर्द लहजे की चादर उढ़ा दी। "भई लाइनपार ! इधर एक मुद्दत से पूरे साहित्य में गतिरोध आ गया है और उधर तुमने भी लिखने से तोबा कर ली है। अब हमारे लिए सब्रके सिवा और चारा ही क्या है !"

"नारंग साहब, आप क्या समझते हैं कि मैंने यह निर्णय अपनी खुशी से किया है !" मैंने अनुभव किया कि 'लाइनपार' की आवाज़ भर्रा गयी है। कुछ क्षण मौन रहने के पश्चात् एक दीर्घ निःश्वास लेकर वह कहने लगा-"यक़ीन जानिये, मैंने अपने फेफड़ों पर अपनी दुकान के सारे बट्टे रख कर, विवश हो कर यह निर्णय किया है।" उसकी इस 'विवशता' पर मेरे दिल को अत्यन्त सन्तोष प्राप्त हुआ कि चलो कम-से-कम एक जी का जंजाल तो कटा मगर प्रत्यक्ष रूप से मैंने ठण्डी साँस छोड़ते हुए कहा—

"लाइनपार ! वह तुम्हारा दिन भर लिखते रहना और फिर रात भर मुझे सुनाते रहना अब कहाँ नसीब होगा ! मगर मेरे यार, अब तुम अपने निर्णय पर चट्टान की भांति अटल रहना !" मैंने उसे स्नेहयुक्त परामर्श दिया क्योंकि मैं जानता था कि अगर यह चट्टान दोबारा खिसकी तो मेरे ऊपर ही आ रहेगी।

"भई लाइनपार ! तुमने अभी खाना तो खाया ही नहीं

होगा ? मैंने उसके उदास चेहरे का ग़ौर से जायज़ा लेते हुए कहा—"वाह साहब ! खाना कहाँ खाना था ? मुझे आपके यहाँ जो आना था।" उसने मेरे सामने पड़ी तली हुई दाल में अपनी लालची नज़रों के चमचे फेरने शुरू कर दिए तो मैंने विवश होकर कहा, "तो फिर साहब, करिए श्रीगणेश और बिना हाथ धोए खाना प्रारम्भ कीजिए !"

'लाइनपार' बेहद ग़लीज़ रहता था और कभी हाथ नहीं धोता था। इसका उसको यह लाभ होता था कि जब भी वह मेरे साथ खाना खाने बैठता था तो मैं उसके बढ़े हुए मैल से स्याह नाख़ून सालन में डूबते और उभरते हुए देखता रहता था और अपने ही खाने से अपना हाथ खींच लेता था।

आज भी ऐसा ही हुआ था—वह मेरा खाना खाता रहा और मैं उसे खाते हुए देखता रहा मगर मैं दिल-ही-दिल में बहुत ख़ुश था क्योंकि उसने लिखना छोड़ दिया था और मेरे लिए मुक्ति का मार्ग खोल दिया था।

पेट भर कर खाना खा चुकने के बाद 'लाइनपार' ने अपनी जेब से काग़ज़ों का एक पुलिन्दा बाहर निकाला और मुझे घूरते हुए बोला—

"आप इस कहानी को यहाँ बावर्चीख़ाने में ही सुनेंगे या किसी चायख़ाने में चल कर ?"

"अरे भई ! यह कहानी फिर कहाँ से आ गई ?" मैंने आश्चर्य से पूछा, "अभी-अभी तो तुम कह रहे थे कि मैंने

लिखना छोड़ दिया है !"

'लाइनपार' ने एक सर्द आह भरी और कहने लगा "पहले आप कहानी तो सुन लें फिर सब मामला आपकी समझ में आ जाएगा।"

और फिर इससे पहले कि मैं कुछ कहता, उसने अपनी कहानी पढ़नी शुरू कर दी जिसमें उसने आपबीती बयान की थी—किस तरह उसे एक बार पपीता खाते हुए एक ऐसी लड़की से प्रेम हो गया था जो कि उसी दुकान पर पपीता ख़रीद रही थी—और बाद में जिसकी शादी घर वालों ने एक सिंघाड़े बेचने वाले से कर दी थी। जब कहानीकार ने इस शादी की ख़बर सुनी तो उसने एक लम्बा पत्र अपनी प्रेयसी को पपीते के रस में केसर डाल कर लिखा जिसमें आख़िरी वाक्य इस प्रकार थे :

हृदय-प्रतिमा ! दमयन्ती ! याद करो वे दिन जब मैंने सिर्फ़ तुम्हारी खातिर पपीते बेचने शुरू किये थे। तुम्हारी मुहब्बत की वजह से ही मेरी दुकान चल निकली थी लेकिन खेद, सहस्रों बार खेद, तुमने मुझसे बेवफ़ाई की और एक सिंघाड़े बेचने वाले से शादी करके मेरी दुकानदारी का सत्यानाश कर दिया। अब तुम पूछती हो कि मैं तुम्हारे प्रेम-पत्र का उत्तर क्यों नहीं देता ? सच पूछो तो मैंने तुम्हारी बेवफ़ाई के कारण ही लिखना छोड़ दिया है।

★ ★ ★

एक साहित्यिक गोष्ठी में श्री भूषण ने एक कविता पढ़ी। जब आलोचनार्थ सभापति ने सदस्य को निमन्त्रण दिया तो दया सेठ अपनी जगह से उठ खड़े हुए और गुर्राती आवाज़ में बोले—

"सभापति महोदय ! इस कविता पर आलोचना नहीं हो सकती क्योंकि यह कविता श्री भूषण की अपनी लिखी हुई नहीं है—इसके वास्तविक लेखक 'नीरज' हैं और यह कविता 'सरिता' के मार्च-अंक में छप चुकी है.....।"

इस पर श्री भूषण ने चीख़ कर पूछा, "आपके पास इसका क्या प्रमाण है कि यह कविता चोरी की है ?"

"जी, अगर आप यह कविता न पढ़ते तो इसे मैं पढ़ता।"

★ ★ ★

रमा को कालेज के ज़माने से ही साहित्य से विशेष रुचि थी और उत्कृष्ट साहित्यकारों के प्रति उसके दिल में बड़ा आदर था।

आज उसका ब्याह हो गया था.....वह सुर्ख़ कपड़ों में लिपटी हुई प्रतीक्षा की प्रतिमा बनी बैठी थी कि इतने में उसके पतिदेव ज़री का लम्बा कोट पहने, खुशबुओं में नहाए, एक हाथ में फूलों का गुलदस्ता और दूसरे में एक पुस्तक लिए कमरे में प्रविष्ट हुए। कुछ देर के लिए वह रमा को टिकटिकी बांधे देखते रहे और फिर अत्यन्त मधुर स्वर में बोले—

"ऐ आकाश से उतरी हुई अप्सरा ! ऐ तारों की रानी !! तेरे इस घर में प्रवेश करते ही मेरे मन का अंधकार लोप हो गया है। देवि ! मैं एक साहित्यकार हूँ, इसलिए प्रथम मिलन की मधुर स्मृति में मैं तुम्हें अपनी पुस्तक भेंट करता हूँ।" यह कह कर उन्होंने अपनी पुस्तक रमा की झोली में डाल दी।

रमा यह जान कर कि उसका पति भी एक लेखक है, हर्ष-विभोर हो गयी लेकिन घूँघट की ओट से जब उसने पुस्तक पर 'भारतीय चिड़ीमार' लिखा देखा तो वह गुस्से से पागल हो गयी और उसने पलंग पर लगा हुआ टेक लगाने वाला डण्डा घुमा कर अपने पतिदेव के सिर पर दे मारा।

"ओ तेरा सत्यानाश.....!" बेचारे के मुँह से तो सिर्फ़ इतना ही निकला लेकिन सिर से खून का दरिया बह निकला और वह मूर्छित हो गया।

★ ★ ★

जब एक साहित्यिक गोष्ठी में मेरा परिचय जगदीश कुमार से करवाया गया तो मैंने शिष्टता की भी परवाह न करते हुए उससे हाथ मिलाने से साफ़ इनकार कर दिया और करबद्ध प्रार्थना की—"अगर आप अपनी कोई भी रचना मुझे न सुनाएँ तो मैं मित्रता का हाथ बढ़ाने के लिए तैयार हूँ।"

कुमार साहब बहुत घबराए क्योंकि साहित्यिक गोष्ठियों में एक दूसरे से सम्बन्ध इसीलिए स्थापित किया जाता है ताकि अपने श्रोतागणों में वृद्धि हो लेकिन मैं इस प्रकार के क्रम से

तंग आ चुका था, इसीलिए पहले ही से पेशबन्दी कर लेना उचित समझा। चार-ओ-नाचार कुमार साहब ने आगे बढ़ कर मेरा हाथ थाम लिया।

"साहब, बड़ी मुद्दत से आरज़ू थी कि आपकी सोहबत का लुत्फ़ उठाया जाए.....!"

मैंने मुसकराते हुए बात कह दी, "जो ! लुत्फ़ तो अब भी बेशक उठाया जाए लेकिन अपना लिखा कभी न सुनाया जाए।"

कुमार साहब खिसियानी हँसी हँस दिए और मैं अपने व्यवहार पर खम्बा नोचने लगा। इस भेंट के बाद कुमार साहब मुझे जब भी मिले, मैंने उन्हें अपनी लिखी हुई कोई-न-कोई चीज़ ज़रूर सुनायी ताकि उन्हें कुछ सुनाने का मौक़ा ही न मिले। मैंने हर बार उनसे खोखली प्रशंसा उपलब्ध की जिसकी पृष्ठभूमि में एक ही वाक्य टर्राता रहा कि कभी तो आप हमारी भी लिखी हुई चीज सुनिए.....।

आख़िर एक दिन मैंने उन्हें अपने बचपन की रचनाएँ भी सुना डालीं लेकिन कुमार साहब धैर्यपूर्वक उनका रसपान करते रहे तो मुझे उन पर दया-सी आ गयी। मैंने सहानुभूतिपूर्ण स्वर में कहा—

"कुमार साहब, आप धन्य हैं ! मैं लज्जित हूँ। बस, अब आप जल्दी से अपनी कोई नवीन रचना सुनाइए।"

मुझसे यह सुन कर कुमार साहब बाग़-बाग़ हो गए, जेब से रचना निकाली और पैंतरा बदल कर बैठ गए।

"सुनिए श्रीमान् जी !" वह अत्यन्त कोमल स्वर में मुझ से मुख़ातिब हुए—

"यह एक एकांकी है। पर्दों की संख्या का इसमें कोई हिसाब नहीं, अब आप से इस बात का क्या पर्दा। इसमें सब से बड़ी ख़ूबी यह है कि जब यह ड्रामा खेला जाएगा तो आप जिस क़दर अपने आदमी स्टेज पर बैठाना चाहें—बैठा सकेंगे और उन्हें ड्रामा देखने वाले 'पात्र' ही ख़्याल करेंगे।"

इस संक्षिप्त-सी भूमिका के बाद उन्होंने अपना ड्रामा पढ़ना शुरू किया और 'संवादों' को अपनी आवाज़ के पूरे उतार-चढ़ाव के साथ अभिनीत किया। एक कुत्ते के पार्ट को उन्होंने स्वयं भौंक कर इस ख़ूबी से प्रस्तुत किया कि मुहल्ले भर के कुत्ते चौकन्ने हो कर उनके मकान की छत पर आ गए।

ड्रामा पढ़ चुकने के बाद मेरे चेहरे का ग़ौर से जायज़ा लेते हुए बोले—

"हाँ तो साहब ! कहिए, ड्रामा कैसा रहा ?"

मैंने कुत्तों की ओर ग़ौर से देखते हुए कहा, "भई, मैं आपकी मित्रता के नाते उन लोगों के नाम तो बता सकता हूँ जिनका मैंने उधार देना है लेकिन इस ड्रामे की प्रशंसा नहीं कर सकता।"

"देखिए साहब ! मैं इस पर आपकी निष्पक्ष आलोचना चाहता हूँ। एक और बात आप पर स्पष्ट कर दूँ कि आलोचना करते वक़्त इन कुत्तों का जरूर ख्याल रखिएगा जो मेरे संकेत की प्रतीक्षा में बैठे हैं।"

अब मैं मजबूर था क्योंकि इससे पहले मैं इरविन अस्पताल में एक आलोचक की ज़ख्मी टाँग देख चुका था। इसलिए मैं ने ड्रामे की प्रशंसा में पुल बांध दिए और जब उन्होंने अपने कुत्तों को बाध दिया तो मैं अपने दिल की बात कह कर वहाँ से भाग आया कि यह ड्रामा तभी सफल होगा जब आप इसमें कुत्ते का पार्ट खुद अदा करेंगे।

दूसरे दिन सुबह-सवेरे जब मै हाथ में बालटी लिए म्युनिस्पेलिटी के नल पर स्नान करने जा रहा था तो सामने क्या देखता हूँ कि म्युनिस्पैलिटी का एक इंस्पैक्टर और दो कांसटेबल खड़े हैं। इंस्पैक्टर साहब पहले खंकारे और फिर शेर की तरह चिंघाड़े—"तुम रोज़ कमेटी के नल पर नहाते हो ना ?"

मैंने सहमी हुई आवाज़ में जवाब दिया, "जी हाँ !"

"तुम्हें पता है ना कि कमेटी के नल पर नहाना जुर्म है ?"

"जी हाँ !"

"तो फिर तुम क्यों इस नल पर नहाते हो ?"

मैं निरुत्तर हो गया, कुछ देर तक खामोशी से सिर झुकाए बालटी के कुण्डे की तरफ़ देखता रहा कि अचानक मेरी नज़र इंस्पैक्टर साहब के फ़ुल-बूटों पर जा पड़ी। मैं मारे डर के सिर से पाँव तक काँप गया। "साहब ! आइन्दा कमेटी के नल पर नहीं बल्कि गन्दे नाले पर नहाऊँगा—अब के माफ़ कर दीजिए !"

इंस्पेक्टर साहब मेरी इस बात पर मुसकरा दिए और मेरी पीठ थपथपाते हुए बोले, "अरे ! गन्दे नाले पर नहीं, कल से तू अपने घर पर ही नहाया करेगा—आज ही कमेटी का कारिन्दा तुम्हारे घर में नल लगा जाएगा लेकिन आज तुम्हें कुमार साहब के घर जाना पड़ेगा और उनके उस ड्रामे की प्रशंसा करनी होगी क्योंकि वह मेरे गहरे दोस्त हैं।"

★ ★ ★

एक साहित्यिक गोष्ठी में श्री सरस्वती राम 'मंजूषा' जो 'मार्ग-प्रदर्शक' के कार्यालय में कम्पोज़ीटर थे, एक कहानी पर आलोचना करते हुए बोले—

"यों प्रतीत होता है कि इस कहानी का लेखक नया है। मैं जब 'मार्ग-प्रदर्शक' का सम्पादन किया करता था तो कृष्ण चन्द्र की एक कहानी 'डू डू' मेरे पास आयी—मैंने उस पर लिख दिया कि इस कहानी को पढ़ कर मैंने अपना अमूल्य समय नष्ट किया है। 'मार्ग-प्रदर्शक' के मालिक मेरे घर आए और उन्होंने मुझसे प्रार्थना की कि मैं इस कहानी को प्रकाशित कर दूँ, नहीं तो भविष्य में कृष्ण हमें अपनी कोई भी रचना

नहीं भेजेंगे। अतएव विवश हो कर मुझे वह कहानी प्रकाशित करनी पड़ी। वैसे यहाँ जो कहानी पढ़ी गयी है, वह बिल्कुल बकवास है।"

लेखक ने आपत्ति की—"मैं पूछता हूँ कि आपकी इस भूमिका का मेरी कहानी के साथ क्या सम्बन्ध है ?"

मैंने न चाहते हुए भी धीरे से कह दिया, "जी, वही जो एक सम्पादक और कम्पोज़ीटर में होता है।"

★ ★ ★

माणिकलाल मेरे पास आए और कहने लगे—"भाईजान ! मैं साढ़े तीन सौ पृष्ठों का एक उपन्यास लिखना चाहता हूँ। बताइए, उसका शीर्षक क्या रखूँ ?"

मैंने हैरानगी से जवाब दिया, "भई ! बिना उपन्यास सुने मैं उसका शीर्षक कैसे निर्धारित कर सकता हूँ ?"

बिगड़ कर बोले, "अच्छा, तो यह बताइए कि 'लंगड़ों का साहित्य में स्थान' शीर्षक कैसा रहेगा ?"

मैंने प्रशंसा के स्वर में कहा, "सुन्दर ! अति सुन्दर !! बड़ा प्यारा शीर्षक है।"

"और यह शीर्षक 'चलूँ मैं मोरनी की चाल ठुमक-ठुमक' कैसा रहेगा ?"

"वाह ! यह तो पहले से भी अच्छा है।"

"तो क्या आपका यह मतलब है कि पहला शीर्षक बुरा

था ?" माणिकलाल गुर्राए तो मैंने सहमी हुई आवाज़ में कहा, "जी, मैंने ऐसा आपसे कब कहा है ?" इस पर वह संतुष्ट हो गए और बोले—

"अच्छा, तो अब यह बताइए कि इस उपन्यास में मैं क्या लिखूँ ?"

मेरी ज़बान गुंग हो गयी और मैं उन्हें दुकर-दुकर देखता रहा।

★ ★ ★

हमारे प्रोफ़ेसर गौड़ सारंग जी ने पढ़ाने का काम छोड़ कर एक दुकान खोल ली। मैंने सुख की सांस ली क्योंकि प्रोफ़ेसर साहब पढ़ाते समय अपनी लिखी हुई चीज़ें सुनाने लग जाते थे।

दीवाली के रोज़ उनकी दुकान पर आने-जाने वालों का एक तांता बंधा हुआ था। दुकान के माथे पर एक बोर्ड लटक रहा था जिस पर लिखा था—

यहाँ पर थोक और परचून के भाव उपन्यास और लेख, कहानी और कविताएँ सुनी और सुनायी जाती हैं। ज़रूरतमन्द लोग नोट फ़रमाएँ। स्त्रियों के लिये पर्दे का विशेष प्रबन्ध है।

★ ★ ★

एक दिन दयाराम मुझे अपने घर ले गया। नौकर से कह कर उसने मेरे लिए एक स्पेशल चाय, दो गुलाब जामुन और एक मट्ठी मँगवायी। फिर मैं उसके अनुरोध पर जामुन खाता रहा, शर्माता रहा और दिल-ही-दिल में घबराता रहा कि कहीं वह मुझे खाते समय अपनी कविताओं से लादना न शुरू कर दे। कुछ क्षण तक कमरे में मौन छाया रहा—मैं तो इसलिए खामोश रहा, क्योंकि मैं खा रहा था लेकिन दयाराम क्यों खामोश रहा, इसके विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता। मैं तो खुद उसके रहस्यपूर्ण मौन से और भी ज्यादा भयभीत हो रहा था लेकिन मेरे दिल को गुलाब जामुनों का बड़ा सहारा था।

फिर यकायक दयाराम ने हँसना शुरू कर दिया। चाय का घूंट लेते हुए मैंने सहमी-सहमी नज़रों से उसके गोल-मटोल पेट की तरफ़ देखा तो मुझे उसकी हँसी की आवाज़ यूँ लगी जैसे कोई पटाखा किसी बन्द मुँह के मटके में पड़ा चल रहा हो। कुछ देर बाद जब उसकी खोखली हँसी का पटाखा सर्द पड़ गया तो उसने बड़े कवित्वपूर्ण ढंग से कहा—"लिख रही हो आजकल मेरी प्रेयसी तुम क्या—कोई तो नई बात सुनाओ तुम !"

मैं चूँकि चाय पी चुका था, इसलिए अब निर्भय था। "वाह, वाह ! दयाराम, क्या बात पैदा की है तुमने !

कोई तो नई बात सुनाओ तुम।

और मेरे मोटे हमदम, एक और जामुन खिलाओ तुम !"

इस पर दयाराम का पेट अपनी जगह पर एक-दो मर-तबा बड़े ज़ोर से घूमा, चर्बी की तहों से मंढे हुए कंधे अपनी-अपनी जगह पर कबूतर की तरह फुदके लेकिन हँसी का कोई चिह्न उसके प्रभावहीन मुख पर प्रकट न हुआ। गंभीरता से कहने लगा, "देखो, तुमने फिर व्यंग्य बोला है।"

मैं उसके बिगड़े हुए तेवर फ़ौरन भाँप गया लेकिन 'तुम ने फिर व्यंग्य बोला है' उसके इस वाक्य को मैं समझ न सका।

"हाँ, तो दयाराम अब तुम कोई अपनी चीज़ सुनाओ!" मैंने उसे शिष्टाचार के नाते कहा।

"अरे यार, हम क्या लिखेंगे!" वह गत्ते का डिब्बा ले आया जिस पर 'मद्रास बूट हाउस' का लेबल लगा हुआ था।

मैंने पूछा, "दयाराम, क्या इसमें जूते हैं?"

वह मारे हँसी के लोट-पोट हो गया। बोला, "देखो, तुमने फिर व्यंग्य बोला है। इससे तो यही बेहतर है कि तुम मुझे गाली कर दो!" और यह कह कर वह गत्ते का डिब्बा खोलते हुए बोला—"अरे! इसमें जूते नहीं, मेरी कविताएँ हैं।"

"कविताएँ हैं? बड़ी अच्छी बात है।" मैं भी उसी स्वर में बोला लेकिन 'बड़ी अच्छी बात है' कहते हुए मुझे ऐसा

लगा कि मैंने व्यंग्य नहीं बोला बल्कि झूठ बोला है।

दयाराम ने काग़ज़ों का एक पुलिंदा डिब्बे से बाहर निकाला और उसे नये जूते के तले की तरह अपनी हथेली पर मारते हुए कहा—

"मेरी यह कविता सुनने से पहले तुम इसकी पृष्ठभूमि सुन लो।"

"क्या वह भी कविता के साथ ही लिखी हुई है ?" मैंने हैरानगी से पूछा मगर उसने मेरी एक न सुनी और मुझे डेढ़ घंटे तक कविता की पृष्ठभूमि सुनाता रहा जिसमें उसने एक लड़की के तीन ख़ानदानों के मुकम्मिल हालात और अपनी पाँच पीढ़ियों की प्रेम-कथाओं का भी वर्णन किया था।

इतने में एक और कवि पधारे और उन्होंने आते ही दयाराम से कविता सुनाने का अनुरोध किया।

मैंने उनसे पूछा, "क्यों महाशय, क्या आप कविता सुनने से पहले इसकी पृष्ठभूमि नहीं सुनेंगे ?"

उन्होंने निहायत संजीदगी से जवाब दिया—"अजी साहब ! क्या आप मुझे इतना ही मूर्ख समझते हैं ? मित्रवर, हम श्रोता और रचयिता दोनों हैं। सच मानिए, मैं छः रोज़ तक इस कविता की पृष्ठभूमि सुनता रहा हूँ। तब कहीं जा कर आज इस कविता के रसपान का समय आया है।"

मैंने संतोष की साँस ली कि चलो सस्ते छूटे। दया-

राम ने जब एक कविता हाथ में ली तो मैंने उन दोनों की नज़र बचा कर कविताओं के डिब्बे पर ढकना चढ़ा दिया जैसे उसमें काले नाग पड़े हों जो मुझे डस लेना चाहते हों। दयाराम ने मेरी ओर देख कर कहा, "जी, अर्ज किया है—

वह आये खिड़की में हमको देख कर सटक गए
कर दिए बन्द खिड़की के पट वालों को झटक गए
पूछी खैरियत मैंने हो गए खफा....."
"खफा," मैंने तड़प कर दाद दी।
"पूछी खैरियत मैंने हो गए खफा
फरमाया अरशाद बड़ा हूँ मैं बेहया
गर है यह गुस्ताखी तो सजा चाहता हूँ।"

मैंने चिल्लाकर दाद दी, "वाह, वाह! दयाराम, आज तो अल्लामा इक़बाल भी तुम्हारे दरबार में हाथ बांधे तुमसे दया की भीख माँग रहे हैं।" लेकिन वह मेरी बात न समझा और मुझे सम्बोधित करते हुए बोला—"शेर पर जरा गौर कीजिए, नारंग साहब!

कितनी कठोर हो तुम सुन्दरी!
अपने तो दिल और कूल्हे ही पटक गए
आह! मेरी संगदिल तेरी मुहब्बत के कांटे दिल में अटक गए।"

कविता समाप्त हो चुकी थी लेकिन वह कवि महोदय दयाराम को बड़े ज़ोरों से दाद दे रहे थे और हर एक आर्टिकल नुमा मिसरे को चबा-चबा कर अपना सिर धुन रहे थे। मैं

चूँकि ख़ामोश बैठा था, इसलिए दयाराम ने मुझसे पूछा—"कहो भई ! कैसी थी यह मेरी कविता ?" लेकिन मैं ने उसकी बात का कोई जवाब न दिया और टिकटिकी बांधे गत्ते के उस डिब्बे की ओर देखता रहा और सोचता रहा कि अगर इसमें कविताओं की बजाय जूते होते तो कितना अच्छा होता।

कुछ देर बाद वह कवि महोदय आलोचनात्मक स्वर में बोले, "यह कविता प्रगतिशीलता की प्रतीक है क्योंकि इसमें सुधारवाद की भावना नहीं है। दयाराम, अगर तुम इस कविता में एक और छन्द की वृद्धि कर लो तो यह कविता इस युग की सर्वश्रेष्ठ रचना प्रमाणित होगी।"

"मगर जब छपेगी तब ही तो सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित होगी !" मैं ने उस पर चोट की तो दयाराम गुस्से से तमतमा उठा।

"अजी ! छपेगी कैसे नहीं ? मैं ने तो पूरी फाउन्डरी अपने घर में रखी हुई है। आज ही रात फरमा कम्पोज करके प्रेस में दे आऊँगा। इंकमैन और प्रेसमैन मेरे अपने आदमी हैं।" फिर दयाराम उस कवि की ओर आकर्षित हुआ "हां जी ! बताइए न, कौनसा छन्द और बढ़ा दूँ ?"

वह कवि एक बार फिर गुनगुनाया —

"आह! मेरी संगदिल तेरी मुहब्बत के कांटे दिल में अटक गए।
कारवाने इन्क़लाब तारीक राहों में भटक गए।"

दयाराम और वह कवि अपनी इस 'मिसराबाज़ी' पर

बहुत उछले तो मैं शर्मिन्दा होकर अपनी जगह से उठ कर खड़ा हो गया। दयाराम ने जब मुझे जूते पहनते देखा तो अपनी कविताओं का डिब्बा उठा कर मेरे पास आ गया और रुष्ट स्वर में बोला—"आप कहाँ जा रहे हैं ?"

"जी ! मैं जमना में डूबने जा रहा हूँ।"

इस पर दयाराम ने उदास नज़रों से अपनी कविताओं की ओर देखते हुए कहा, "आप मेरी ये कविताएँ सुने बिना नहीं जा सकते।"

लेकिन मैंने कुछ कहने की बजाय चाय और मिठाई के सात आने जेब से निकाले और कविताओं के डिब्बे पर रख कर वहाँ से चला आया।

★ ★ ★

मैं चांदनी चौक में बने हुए एक पेशाबघर में खड़ा पेशाब कर रहा था कि अचानक एक पटाखा मेरे कान के क़रीब छूटा।

"नारंग साहब ! कहानी का शीर्षक है 'और जानकी मर गई'। दीनू जिसे लोग मां का दीना कहते थे, कहानियाँ लिखा करता था। जानकी ने जब पहली बार उसे देखा तो उसे यूँ प्रतीत हुआ जैसे पूँजीपतियों की गगनचुम्बी अट्टालिकाओं में दरारें पड़ गयी हों और उन दरारों से कई जानकियाँ सिर निकाल कर उसे अपनी ओर बुला रही हों.....!"

मैं कुछ क्षणों तक पेशाब करने का निष्फल प्रयत्न करता रहा लेकिन अन्त में मुझे इज़ारबन्द बांधना ही पड़ा। घूम कर देखा तो रामप्रसाद जी अपनी कहानी पढ़ रहे थे।

मैंने उन्हें कंधों से पकड़ कर एक-दो बार झिंझोड़ा लेकिन वह निरन्तर अपनी कहानी पढ़ते रहे। मैंने उनकी आँखें बन्द कर दीं तो वह ज़बानी कहानी सुनाते रहे। मैं बौखला उठा। जी तो चाहा कि उनका गला घोंट दूँ लेकिन फिर ख्याल आया कि थाना सामने है, बेमौत मारा जाऊँगा। चुनाँचे मैंने उनके मुँह पर अपना हाथ रख दिया और निवेदन किया कि मित्रवर, यह पेशाबख़ाना है, मेरा दौलतख़ाना नहीं।

"दौलतख़ाना"!

रामप्रसाद जी के गले से जब यह आवाज़ बाहर न निकली तो उनके गले का मनका अपनी जगह पर यूँ उछलने लगा जैसे कोई अकेला चना भाड़ फोड़ने की कोशिश कर रहा हो। मैंने घबरा कर अपना हाथ उनके मुँह से हटाया तो उन्होंने मुझे गले से लगा लिया। "सच! मैं बड़ी आशाएँ लेकर आपके पास आया हूँ और जैसा सुना था वैसा ही आपको पाया है। मैं कल आपके घर आ जाऊँगा।"

यह कह कर वह चले गए लेकिन दूसरी सुबह जब साढ़े चार बजे मेरी आँख खुली तो क्या देखता हूँ और सुनता हूँ—रामप्रसाद जी अपनी कहानी 'और जानकी मर गई'

पढ़ रहे थे। मैंने शौचादि से निवृत्त होने के अभिप्राय से चारपाई के नीचे से पानी का लोटा उठाया तो रामप्रसाद जी भी मेरे पीछे-पीछे आ गए। मै बहुत शर्माया लेकिन मजबूरी थी। मैंने शौचालय का द्वार अन्दर से बंद कर लिया लेकिन रामप्रसाद जी की कहानी पढ़ने की आवाज़ बराबर आती रही।

★ ★ ★

"मैंने लिखना छोड़ दिया है।" देखा आपने ! मैंने भी इसी टैक्नीक का सहारा ले कर आप को अपना लिखा इतना कुछ सुना डाला।

—o—

★

आधुनिक युग में लेखक बनने के लिए

दो शिकारी कुत्ते

और

एक पहलवान रखना बड़ा आवश्यक है।

पुनश्चः

आवश्यकतानुसार इसमें परिवर्तन भी किया जा सकता है अर्थात् दो पहलवान और एक शिकारी कुत्ते से भी काम चलाया जा सकता है।

★

उपन्यास सुनाने से पहले उन्होंने कमरे के दरवाज़े पर ताला लगा दिया। मैं घबरा गया और इसका कारण पूछा तो वह पांडुलिपि खोलते हुए बोले, "जो कुछ मैं तुम्हें सुनाऊँगा, वह तुम्हें ज़बानी याद करना पड़ेगा और यह ताला इसलिए लगा दिया है ताकि तुम कहीं भाग ही न जाओ।"

ठेका

चौंकिए नहीं, मैं दुनिया के सबसे बड़े डाक्टर, हकीम डण्डाराम मुलतानी का विज्ञापन करने नहीं जा रहा जो बिजली-पानी-भाप द्वारा गुप्त रोगों का इलाज करते हैं। मैं न तो सरदार मर्दूल सिंह क्वातड़ा का चरित्र बयान करना चाहता हूँ जिन्होंने दूसरे विश्व-युद्ध में लकड़ी के तख़्ते रंदने का ठेका लिया था और जो अब पंजाबी भाषा में फ़िल्में बना कर पंजाब की सभ्यता और संस्कृति को अपने अक़्ल के कुन्द फलटे से बड़ी बेदर्दी के साथ रंद रहे हैं और जिसकी वजह से अब भी बेचारे पंजाबियों को देहली वालों के मुहल्ले में किराये पर मकान नहीं मिलते और नाहीं मैं उस इंजीनियर का ज़िक्र करूँगा जिसने ख़ुद अपने नौकर के नाम 'ठाखड़ा डेम' के लिए सीमेंट सप्लाई करने का ठेका लिया था और सीमेंट की जगह रेत की बोरियाँ सप्लाई कर दी थीं—उधर जिसे अंधेरनगरी के माननीय राष्ट्रपति जी ने पद विभूषण प्रदान करने की घोषणा की थी और पुलिस ने जिसे उसी रात गिरफ़्तार कर लिया था।

ऐसा मैंने इसलिए लिख दिया है ताकि बाद में आपको निराशा न हो क्योंकि मेरी यह कहानी एक सीधे-सादे क्लर्क

रामलुभाया से ताल्लुक़ रखती है जो दिन भर एक प्राइवेट फ़र्म में चपरासी की तनख़्वाह पर काग़ज़ी चक्की पीसता था। उसके पड़ोस में ही राय साहब बनवारी लाल रहते थे जिनकी लड़की निशा गली में आते-जाते प्रायः रामलुभाया की ओर अत्यन्त रहस्यपूर्ण दृष्टि से देखा करती थी और बेचारा रामलुभाया आइने में अपनी सूरत देखने पर मजबूर हो जाता था।

निशा ख़ासी लड़की थी, दरमियाना क़द, तीखे नयन-नक़्श, निखरता हुआ रंग।

निशा को देखते ही रामलुभाया की आँखों के सामने अपने दफ़्तर की वह काली अलमारी घूम जाती थी जिस पर उसने दीवाली के रोज़ सफ़ेदे में थोड़ा-सा सिंदूर मिला कर ख़ुद ही रंग के दो-एक कोट कर डाले थे।

निशा बचपन और जवानी के संगम पर खड़ी आश्चर्य और विस्मय से दोनों की तरफ़ देख रही थी। बस, यूँ समझिए कि इन विशेषताओं के बावजूद वह एक ऐसी लड़की थी जिस पर कभी भी आसानी से दिल नहीं आ सकता था और अगर आ जाता था तो फिर उसी तरह आसानी से आया हुआ दिल वापिस नहीं जा सकता था।

रामलुभाया ने एक बार निशा को बुलाना भी चाहा लेकिन हर बार कोई-न-कोई आदमी गली में आता-जाता दिखायी दे जाने पर उसकी कोशिशें सफल न हुईं। एक दिन

वह दफ़्तर से घर आ कर अपनी टूटी हुई चारपाई पर सुस्ताने के लिए बैठा ही था कि निशा के घर काम करने वाला मुंडू घबराया हुआ आया और हाँपती हुई आवाज़ में बोला, "बाबू ! हमारा बड़ा बाबू थारे को घर बुलावे है ।" रामलुभाया के दिल में तुरन्त संदेह उत्पन्न हुआ कि राय साहब ने उसे निशा को घूरते हुए देख लिया है। पहले तो उसके दिल में एक ख़्याल ने सिर उठाया कि वह घर से भाग जाए लेकिन फिर दूसरे ख़्याल ने आ कर पहले का सिर कुचल दिया कि अगर वह निशा के बाप के बुलाने पर भी न गया तो उनका शक पुख़्ता यक़ीन में बदल जाएगा। चुनाँचे उसने अपनी मैली कमीज़ के बटन खोलते हुए भरी आवाज़ में कहा—"मुंडू, जा कर राय साहब से बोलो कि मैं अभी हाज़िर होता हूँ।"

कमीज़ उतार कर रामलुभाया ने मुँह धोया, खद्दर का नया धोबी का धुला कुर्ता और घर की धुली हुई पतलून पहनी—फिर अपनी सादगी और बेचारगी का आभास क़रवाने के लिए उसने कुर्ते को पतलून में अड़ेस लिया—ख़ुश्क बालों में तेल डालने के लिए जब उसने तेल की शीशी उठायी तो वह ख़ाली थी। रामलुभाया ने अपने लिहाफ़ पर ही दो-एक बार सिर रगड़ लिया क्योंकि उसका लिहाफ़ बहुत पुराना होने की वजह से इस क़दर चिकना हो गया था कि अगर कोई उसे अच्छी तरह निचोड़ता तो उसमें से दो-एक बोतल तेल का निकल आना मामूली-सी बात थी।

इस तरह सिर पर तेल लगाने के बाद रामलुभाया ने अपने हाथ की उँगलियों से बालों में कंघी कर ली और एक अच्छा ख़ासा जोकर बन कर वह निशा के घर के लिए चल दिया। रास्ते में ही उसने अपने दिल में फ़ैसला कर लिया था कि वह राय साहब के सामने जाते ही अपनी ग़लती को स्वीकार कर लेगा और भविष्य में इस हो रही नज़रबाज़ी से तोबा कर लेगा।

अभी वह उनके मकान की ड्योढ़ी में ही पहुँचा था कि 'बाहर कौन है ?' राय साहब की गरजदार आवाज़ सुन कर रामलुभाया रुक गया।

"क्या बहरे हो, सुनते नहीं ? मैं पूछता हूँ, बाहर कौन है ?"

राय साहब अपनी पूरी ताक़त से फिर गरजे कि रामलुभाया सिर से पाँव तक काँप गया और उसका सन्देह दृढ़ हो गया लेकिन फिर भी वह सम्भल कर बड़ी मुश्किल से बोला, "जी, मैं हूँ—।"

"ओह—रामलुभाया ! आ जाओ भई, अंदर आ जाओ !"

रामलुभाया को ऐसा लगा जैसे उस बबर शेर को फिर से जंगले में बंद कर दिया गया हो जो एक लम्हा पहले उसके सामने खड़ा गुर्रा रहा था। रामलुभाया ने 'चिक' उठायी और बैठक में दाख़िल होते ही बड़ी नम्रता से अपने दोनों हाथ जोड़ दिए। राय साहब ने उसे सिर से ले कर पाँव तक

बड़े ग़ौर से देखा और उसे कुर्सी पर बैठने के लिए हाथ से संकेत किया। रामलुभाया ने डर की वजह से अपने हाथ मलने शुरू कर दिए, उँगलियों को कड़कड़ाते हुए और अपने पर बड़ा जब्र करते हुए कुर्सी पर बैठ गया और अति नम्रता से बोला, "जी, फ़रमाइए ! आपने मुझे किस लिए याद किया था ?"

अभी राय साहब कुछ कहने भी न पाए थे कि साथ वाले कमरे से निशा की सिसकियों की आवाज़ सुनायी देने लगी। रामलुभाया को मामला समझने में देर न लगी और वह अपने को आने वाले भयंकर क्षणों के लिए तैयार करने लगा—और अभी वह राय साहब के क़दमों में गिड़गिड़ा कर क्षमा माँगने ही वाला था कि राय साहब ने बड़ी गम्भीर आवाज़ में उससे पूछा, "जानते हो, निशा क्यों रो रही है ?"

"जी.....!" अब के रामलुभाया वाक़ई गुम हो गया। "जी, नहीं !" हालाँकि उसने चाहा भी कि वह साफ़-साफ़ कह दे कि आपने निशा को मेरी वजह से पीटा है लेकिन आवाज़ उसके गले से फूट न सकी।

"हूँ !"

राय साहब की इस 'हूँ' पर रामलुभाया को ऐसा लगा जैसे पानी भरते समय उसके हाथ से कोई लोटा छूट गया हो।

"साहबज़ादे ! तुम आजकल करते क्या हो ?"

राय साहब ने शब्दों को चबाते हुए पूछा तो रामलुभाया को ऐसा लगा जैसे उस पर व्यंग्य किया गया हो। उसका जी तो चाहा कि कह दे, "शुक्र है, आप मेरे पड़ोसी हैं वरना लोगों की तरह आप यह भी ज़रूर पूछते कि तुम आजकल रहते कहां हो ?" मगर रामलुभाया ये सब न कह सका, डर और घबराहट की वजह से हकलाते हुए बोला, "जी ! कोई ख़ास काम तो नहीं करता.....!"

"तो फिर तुम ठेका क्यों नहीं लेते ?" राय साहब ने उसकी बात काटते हुए प्रस्ताव पेश किया तो रामलुभाया ने मौक़े की नज़ाकत को भाँपते हुए इस बात को भी जो कि उसके समीप व्यंग्यात्मक थी, पी जाना ही उचित समझा और आहिस्ता से बुड़बुड़ाया, "आप यह क्या फ़रमा रहे हैं ? सूखी रोटी मिल रही है, यही ग़नीमत है।" रामलुभाया को चूँकि इस बात का यक़ीन हो चला था कि राय साहब उसको बेइज़्ज़त करने पर तुले हुए हैं। चुनाँचे उसने अपनी बेबसी का इज़हार करना ही उचित समझा, "राय साहब, मेरे पास इतने पैसे कहाँ हैं जो मैं कोई ठेका ले लूँ ?"

राय साहब खिलखिला कर हँस पड़े जिससे रामलुभाया और भी भयभीत हो गया क्योंकि उसका ख़्याल था कि राय साहब अभी उसे एक थप्पड़ रसीद करते हुए पूछेंगे कि हरा-मज़ादे, अगर दोनों वक़्त रोटी खाने को तुम्हारे पास पैसे नहीं हैं तो तुम्हें हमारी बेटी से इश्क़ करने की क्या सूझी ? लेकिन

राय साहब अपना लम्बा क़हक़हा ख़त्म होते ही आशा के विपरीत नर्मी से बोले, "अरे, तुम मेरी बात नहीं समझे ! मैं तुम्हें किसी पुल का ठेका लेने को नहीं कह रहा। मैं तो तुम्हें अपनी बेटी निशा का ठेका लेने को कह रहा था।"

"निशा क्या अमरूद का पेड़ है जो मैं उसका ठेका ले लूँ ?" मगर यह बात भी रामलुभाया के दिल में ही दम तोड़ गयी। उसे गुमसुम देख कर राय साहब ने अपनी बात की व्याख्या करना उचित समझा। "लुभाया ! बात यह है कि आजकल हर काम ठेके पर होता है, इसलिए मैं यह चाहता हूँ कि तुम निशा को पढ़ाने का ठेका मुझसे ले लो।"

"जी ! अब समझा।" रामलुभाया ने संतोष की साँस ली और बोला, "निशा कौन-सी क्लास में पढ़ती है ?"

"नाइन्थ में पढ़ती थी—आज ही नतीजा निकला है। चूँकि परीक्षा के दिनों में उसे बुख़ार चढ़ आया था, इसलिए फ़ेल हो गयी है। अब मैं चाहता हूँ कि तुम उसे पढ़ाया करो।"

रामलुभाया ने आरामकुर्सी की पीठ पर टेक लगाते हुए कहा, "जी, बहुत बेहतर !"

"ख़ैर, यह तो तुम्हारी मेहरबानी होगी," राय साहब ने शिष्टता के नाते कहा। "हाँ, तो वह ठेके वाली बात भी साफ़ हो जाए !"

राय साहब ने रामलुभाया की फ़ीस जाननी चाही तो उसने यह कह कर अपने आज्ञाकारी होने का प्रमाण दिया,

"जी, आप जैसा उचित समझें ! मुझे सब मंजूर है ।"

"भई ! यह बात नहीं । मैं तुम्हें अंधेरे में नहीं रखना चाहता । वास्तव में तुम्हें निशा पर आवश्यकता से अधिक ही परिश्रम करना पड़ेगा । निशा वैसे है तो बड़ी समझदार...।"

"लेकिन समझ में उसकी कुछ नहीं पड़ता ।" राम लुभाया ने मुसकराते हुए बात पूरी कर दी तो राय साहब भी हँसने पर मजबूर हो गए ।

"फिर भी रामलुभाया, निशा को इस साल फ़ेल हो जाने का बड़ा दुःख है । इसलिए मेरा ख्याल है कि अगर तुमने उस पर थोड़ी-सी भी मेहनत की तो वह दुगनी मेहनत करेगी ताकि अब की बार वह अच्छे नम्बरों पर पास हो कर अपनी पिछली असफलता का मुँह चिढ़ा सके ।"

अभी राय साहब बात कर ही रहे थे कि निशा के रोने की आवाज़ फिर उभरी, "नहीं ममी, मैं ज़िन्दा नहीं रहूँगी—मैं ज़हर खा लूँगी—मैं जमना में डूब मरूँगी ।"

"हूँ—राय साहब !" रामलुभाया कुछ देर सोचते रहने के बाद बोला—"अगर मैं निशा का यह साल भी बचा दूँ तो कैसा रहे ?"

"अरे भई, इससे बढ़ कर हमें और क्या खुशी हो सकती है !" और यह सुन कर वाक़ई राय साहब की खुशी से

बाँछें खिल गयीं। "अरे, निशा बेटी, जल्दी इधर आओ! तुम्हारे पप्पा तुम्हें एक 'हैप्पी न्यूज़' सुनाते हैं।" और वह रामलुभाया की ओर आकर्षित हुए, "हाँ, तो यह साल तुम कैसे बचाओगे ?"

"जी, वह इस तरह.....!" रामलुभाया अभी अपनी बात पूरी भी न कर पाया था कि इतने में निशा अपनी मम्मी के कंधे पर सिर टेके, सिसकियाँ भरते हुए कमरे में दाख़िल हुई। उसने रामलुभाया की तरफ़ आश्चर्य से देखा और अपनी मम्मी की ओढ़नी से 'सड़ूँ' की आवाज़ पैदा करते हुए अपनी नाक साफ़ की।

रामलुभाया ने बातचीत का क्रम प्रारम्भ किया, "जी हाँ, तो मैं कह रहा था कि मैं इसी साल निशा को पंजाब मैट्रिक की परीक्षा प्राइवेट दिलवा दूँगा।"

"सच !" माँ-बेटी और राय साहब के मुँह से एक साथ यह शब्द निकला जिसमें हार्दिक प्रसन्नता का भाव निहित था।

"जी, बिल्कुल सच !" उसने कनखियों से निशा की ओर देखते हुए कहा, "और राय साहब, अब रहा प्रश्न परीक्षा का तो मैं आपको 'श्योर सक्सेस' की गारंटी देता हूँ।"

"थैंक्स, बेटा ! मम्मी ने अपनी खुशी का इज़हार अंग्रेज़ी में किया और निशा ने मुसकराती हुई मीठी नज़रों से राम-

लुभाया की ओर देखा जिसकी एक आँख राय साहब की तरफ़ थी।

"बस, ठीक है। तो आप कल से पढ़ाना शुरू कर दीजिए!" राय साहब ने निशा और उसकी ममी की तरफ़ देखते हुए बड़े संतोषजनक स्वर में कहा।

"जी, अच्छा! तो फिर अब मैं आज्ञा चाहूँगा।" उसने सामने दीवार पर लगे हुए क्लाक पर नज़रें गाड़ते हुए कहा, "साढ़े सात होने को हैं। मुझे एक और जगह भी पढ़ाने जाना है। हाँ, तो कल से मैं ठीक नौ बजे पढ़ाने आ जाया करूँगा।"

हाँ, हाँ, यह टाइम ठीक रहेगा और फिर तुम्हें कौन बहुत दूर से आना है। यह बग़ल में तो तुम्हारा ठिकाना रहा।" फिर राय साहब ने अपनी पत्नी से कहा, "मैंने कहा, सुनती हो! यह बैठक के साथ वाला छोटा कमरा तुम निशा को दे दो ताकि पढ़ाई के समय ये लोग 'डिस्टर्ब' न हों।"

"तो फिर मैं चलूँ, जी?" और रामलुभाया जाने के लिए उठ खड़ा हुआ लेकिन राय साहब ने उसे कंधे से पकड़ कर कुर्सी पर बिठाते हुए वात्सल्यपूर्ण स्वर में कहा—"अरे भई, वह ठेके वाली बात तो बीच में ही रह गयी।"

"जी, अब मैं आप से क्या अर्ज करूँ! बात दरअसल यह है कि ठेके पर 'ट्यूशन' करना तो अलग, मैंने आज से पहले ऐसा कभी सुना भी नहीं है।"

"यानी कि क्या मतलब है तुम्हारा ?" राय साहब ने कुछ रोषयुक्त स्वर में पूछा तो रामलुभाया सहम-सा गया।

"जी, मेरा मतलब कोई ख़ास नहीं था। मैंने तो पहले भी आप से अर्ज़ किया था कि आप जो कुछ भी देंगे, मुझे स्वीकार होगा।"

"हूँ, आप आम तौर पर एक 'स्टूडैंट' से क्या लेते हैं ?" निशा की ममी ने मुसकराते हुए दरियाफ़्त किया।

"जी, यही कोई चालीस रुपये मासिक।"

फिर राय साहब ने सवाल किया, "मेट्रिक की परीक्षा कब आरम्भ होगी ?"

"जी, मार्च में।"

"ठीक है। देखो, हर साल की तरह हमें अब की गर्मियों में भी पहाड़ पर जाना है। वह समय काट कर कुल सात मास बनते हैं और तुम्हारे चालीस रुपये के हिसाब से दो सौ अस्सी रुपये बनेंगे लेकिन जैसा कि अब तुम कहते हो, अगर निशा पास हो गयी तो हम तुम्हें पूरे चार सौ रुपये देंगे और अगर वह फ़ेल हो गयी तो तुम जानते हो कि ऐसी हालत में 'गवर्नमेंट' के ठेकेदारों को भी कुछ नहीं मिलता।"

"जी, आप ऐसा न कहिए ! मैं ख़ुद मेहनती हूँ और 'स्टूडैंट' से मेहनत करवाना जानता हूँ। राय साहब, पढ़ाने का भी एक ख़ास ढंग होता है और हर कोई इस 'गुर' से

परिचित नहीं होता। इसलिए मुझे पूरा विश्वास है कि अगर मैं पढ़ाऊँगा तो निशा ज़रूर पास हो जाएगी। अच्छा तो नमस्ते !"

रायसाहब ने निशा और उसकी ममी के चेहरों का निरीक्षण करते हुए 'नमस्ते' कहा।

रामलुभाया चला गया। आज वह बहुत ख़ुश था। उसने घर जाते ही अपने मकान के दरवाज़े पर लगा हुआ लेटर-बक्स उतार लिया और उस पर अपने नाम के आगे 'ठेकेदार' लिखवाने के लिए एक पेंटर के पास ले गया। उस रात वह 'ट्यूशन' पढ़ाने न गया और रात गए तक निशा और उससे सम्बन्धित अपने आइन्दा व्यवहार के बारे में सोचता रहा।

—क्या उसे निशा से साफ़ कह देना चाहिए कि वह उसे अच्छी लगती है ? फिर उसने सोचा कि रोटी की समस्या इश्क़ की समस्या से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है और फिर वह व्यवसाय से हट कर प्रेम की ओर क्यों आकर्षित हो ? नहीं, नहीं, ऐसी कोई बात नहीं। उसने अपने दिल को समझाया कि उसे खाना मिलता है बल्कि दो रोटियाँ दोनों समय मिल जाती हैं, अगरचे वे चुपड़ी हुई नहीं होतीं तो क्या हुआ ! और फिर उसे इश्क़ भी तो सूखा ही करना है। वह आप-ही-आप बुड़बुड़ाया। मैं तो सिर्फ़ यह चाहता हूँ कि पढ़ाई के साथ-साथ उससे मीठी-मीठी बातें भी करूँ ताकि मुझे मानसिक रूप से भी कुछ शांति प्राप्त हो।"

निस्संदेह रामलुभाया की चिरकाल से यह इच्छा थी कि किसी कोमलांगिनी का उसे केवल सामीप्य ही प्राप्त हो लेकिन उसकी यह इच्छा सदैव अतृप्त ही रही। फिर भी इस बार उसने अपने दिल में यह फ़ैसला कर लिया कि जो अवसर अब उसे मिला है, उससे वह पूरा-पूरा लाभ उठाएगा।

दूसरी रात जब रामलुभाया राय साहब के घर गया तो निशा ने बिना किसी झिझक के उसका बड़ी गर्मजोशी से स्वागत किया। रामलुभाया ने देखा कि पढ़ाई का कमरा बिल्कुल अलग है और सब चीज़ें बड़े सलीक़े से रखी हुई हैं। वह पढ़ाने वाली मेज़ के नीचे से कुर्सी खींच कर बैठ गया और ज़ेरे-लब मुसकराते हुए बोला—"निशा जी! आप तो मुझसे दूर भागती थीं और फटी-फटी आँखों से देखा करती थीं मगर देख लीजिए कि परिस्थितियों ने आपको मेरे निकट आने पर विवश कर दिया है।"

"यह इल्जाम (इल्ज़ाम) तो आप खामखाह (ख़्वाहमख़्वाह) मेरे सिर थोप रहे हैं।"

शब्दों के अशुद्ध उच्चारण पर रामलुभाया ने मुसकराते हुए व्यंग्य किया, "मालूम होता है कि उर्दू भाषा के विषय में आपके भी वही विचार हैं जो यू० पी० के चीफ़ मिनिस्टर श्री संपूर्णानन्द के हैं।"

यह अच्छा ही हुआ जो निशा बात न समझी और बोली, "नहीं जी, यह बात नहीं है। मुझे तो उर्दू सायरी (शायरी)

का भी बड़ा सौक (शौक़) है। मैंने उर्दू का एक इम्तिहान भी दिया था।"

"उसका परिणाम भी नाइन्थ के इम्तिहान जैसा ही हुआ होगा!" मगर रामलुभाया ने यह कहना उचित न समझा और बोला—"खूब साहब! आपसे मिल कर बड़ी खुशी हुई।" रामलुभाया ने व्यंग्य किया तो निशा उसे भी अपनी प्रशंसा समझ कर लजा गयी और अपने सामने खुली कॉपी पर उलटी पैंसिल फेरने लगी।

"हाँ तो निकालिए फिर अंग्रेज़ी की किताब और कुछ पढ़ाई भी हो जाए।"

"रहने भी दीजिए!" निशा शोख़ी से बोली—"पढ़ाई तो अब रोज ही होगी। आज तो आप सिर्फ बातें कीजिए—फिल्मों की बातें—अपनी बातें और जमाने भर की बातें।"

उस रोज़ वह वाक़ई ज़माने भर की बातें करते रहे लेकिन दूसरे दिन भी जब रामलुभाया पढ़ाने गया तो निशा ने उसी हुमक और तरंग से फिर बातें करनी शुरू कर दीं—कि यकायक वह चुप हो गयी जैसे किसी ने पूरी रफ़्तार से भागती हुई कार को एकदम ब्रेक लगा दिया हो। निशा रामलुभाया की तरफ़ आँख के साथ-साथ आवाज़ भी भींच कर बोली, "चुप हो जाइए, मम्मी आ रही हैं।"

रामलुभाया ने जल्दी से ज़बानी ही अंग्रेज़ी के वाक्य बोलने शुरू कर दिए और फिर वह खुद ही उनके मानी बयान करने

लगा। ममी भी उसी कमरे में आ कर निशा के साथ वाली कुर्सी पर बैठ गयीं और फिर तो यह उनका प्रतिदिन का नियम बन गया —यहाँ तक कि वह नौ बजे से कुछ पहले ही घर के सब कामों से निवृत्त हो जातीं और अगर कुछ काम बच रहता तो वह उसे भी निशा के कमरे में ही आ कर करतीं। कई दफ़ा तो वह सुबह को पकाने वाली सब्जी भी निशा के पास बैठ कर ही काटतीं। प्रायः वह एक डायरी हर वक्त हाथ में रखतीं और बैठे-बैठे उसमें कुछ लिखा करतीं जैसे घर के हिसाब-किताब का ब्योरा बना रही हों लेकिन निशा को कभी अकेला न छोड़तीं।

अब रामलुभाया जब भी राय साहब के घर पढ़ाने जाता तो ममी को पहले ही से अपनी प्रतीक्षा में बैठा पाता। अक्सर वह निशा के आने से पहले ही कमरे में आ जातीं थीं। रामलुभाया के दिल में यह सन्देह जड़ पकड़ गया कि पहले दिन की सब बातें निशा की ममी ने सुन ली हैं, तभी तो वह अकसर निशा की लिखाई की कापियों की भी पड़ताल करती रहती हैं। इस ख्याल के आते ही रामलुभाया बहुत शर्मिन्दा हुआ कि उसने निशा से इतने खुल कर बातें क्यों कीं ?

आखिर उसने यह फ़ैसला कर लिया कि अब वह खुश्क इश्क भी नहीं करेगा, पूरी संजीदगी और बेताल्लुक़ी से निशा को पढ़ाएगा और फिर इसमें उसका अपना फ़ायदा भी तो था—निशा के उत्तीर्ण हो जाने पर एक खासी रक़म उसके हाथ में आनी थी जिससे वह अपनी नयी रज़ाई और गर्म

कपड़े सिलवा सकता था। इसके बाद ममी की उपस्थिति में रामलुभाया वाकई बड़ी गम्भीरता और धैर्य से निशा को पढ़ाता रहा।

परीक्षा समाप्त हो गयी। रामलुभाया को पूरा यक़ीन था कि निशा पास हो जाएगी। जिस रोज़ परिणाम निकलना था, उसी रात वह चार बजे ही समाचार-पत्र के कार्यालय के बाहर जा बैठा। समाचार-पत्र बाहर आते ही उसने बड़ी बेताबी से निशा का रोल नम्बर तलाश करना शुरू कर दिया लेकिन उसे मायूसी हुई। दिल की तसल्ली के लिए दो-तीन अन्य अख़बार देखे लेकिन निशा का रोल नम्बर पास होने वालों की सूची में न था।

निढाल हो कर घर पहुँचा तो निशा के घर में 'मोनोग्राम' पर फ़िल्मी रिकार्ड बज रहा था 'मेरा तन डोले———।' रामलुभाया के तन-बदन में आग लग गयी और उसे ऐसा लगा जैसे उसकी ईमानदारी से की गयी मेहनत का मज़ाक़ उड़ाया जा रहा हो। भिन्नाया हुआ वह निशा के घर पहुँचा तो वहाँ ख़ूब चहल-पहल थी। आये हुए मेहमानों में मिठाई बाँटी जा रही थी जिसे देख कर रामलुभाया का ग़ुस्सा काफ़ूर हो गया और उसने समझा कि वास्तव में निशा पास हो गयी है और उसे ख़ुद ही रोल नम्बर के बारे में ग़लतफ़हमी हुई है।

अभी वह ऐसा सोच ही रहा था कि निशा की ममी लड्डुओं से भरा थाल लिए उधर आ निकलीं।

"अम्मा जी, मुबारक हो !" रामलुभाया ने सम्मान-पूर्वक दोनों हाथ जोड़ते हुए कहा ।

तुम्हें भी मुबारक हो, बेटा ! वास्तव में यह तेरी ही मेहनत का फल है ।"

"लेकिन अम्मा जी, निशा का रोल नम्बर क्या था ?"

"बेटा, उसका रोल नम्बर ३२९७ था ।"

रामलुभाया चकराया । "लेकिन अम्मा जी, ३२९७ रोल नम्बर तो पास होने वालों की सूची में है ही नहीं ।"

"हाँ बेटा !" ममी ने दुःखित स्वर में उत्तर दिया ।

"तो फिर निशा पास कैसे हो गयी ?"

"बेटा, निशा फ़ेल हो गयी है ?"

"निशा फ़ेल हो गयी है तो फिर यह जशन किस बात का मनाया जा रहा है ?" रामलुभाया ने झुँझला कर पूछा ।

"बेटा, निशा तो फ़ेल हो गयी है मगर मैं पास हो गयी हूँ ।" ममी का चेहरा हर्षोल्लास से खिल उठा और रामलुभाया का मुँह आश्चर्य से खुल गया । ममी ने उसके खुले हुए मुँह में एक साबूत लड्डू यूँ ठूँस दिया जैसे चोर रात के वक्त कुत्ते के मुँह में सूत का गोला ठूँस देते हैं ताकि वह भौंक न सके ।

—०—

"हमारी जान गयी उनकी अदा ठहरी"

"क्यों जी, यह अंडा कैसे दिया है ?" मैंने एक दुकानदार से पूछा।

"तीन आने का एक, साहब !"

"तीन आने का एक !" मैंने अंडे को हाथ में ले कर जाँचते हुए कहा, "यार ! यह अंडा तो बहुत छोटा है।"

"बाबू जी, इस अंडे को तो देते वक़्त बेचारी मुर्ग़ी की जान निकल गयी और आप इसे छोटा बता रहे हैं !"

★

समझौता

धक्काशाही एक्सप्रेस फ़र्राटे भरते हुए जा रही थी कि दूर से ही इंजन ड्राइवर को अपनी प्रेयसी रेलवे लाइन के समीप एक जोहड़ पर कपड़े धोते हुए दिखायी दे गयी। उसने तुरंत भाप बंद कर दी और गाड़ी ऐन उसी जोहड़ के सामने ले जा कर खड़ी कर दी।

"मैंने कहा, लाइए ये कपड़े हम लाण्डरी से धुलवा लाएँगे!"

इंजन ड्राइवर ने जब यह ऊँची आवाज़ लगायी तो वह शरमा कर सरकंडों के पीछे छिप गयी। इतने में गार्ड साहब आ गए और कड़वे लहजे में इंजन ड्राइवर से बोले, "तुमने आज फिर उस लड़की के लिए गाड़ी रोक दी है! मैं अगले ही जंकशन पर तुम्हें नौकरी से जवाब दिलवा दूँगा।"

इंजन ड्राइवर ने मुसकराते हुए कहा, "अरे यार, इतना गर्म क्यों होते हो? अगला गाँव तुम्हारी प्रेयसी का है ना! जाओ, आज वहाँ भी गाड़ी रोक दूँगा।"

★

समानान्तर रेखाएँ

"मेम साहब ! इस सुनसान जगह पर आप मेरा पीछा क्यों कर रही हैं ?"

"आप मेरे आगे क्यों चल रहे हैं ?"

"अब आप मेरा पीछा क्यों कर रही हैं ?"

"खूब !"

"जी.....?"

"हूँ !"

"हाँ !"

"मानो हम एक ही मंज़िल की तरफ़ बढ़ रहे हैं।"

"शायद मेम साहब, ऐसा ही हो !"

"ऐसा ही हो नहीं.....ऐसा है !"

"अच्छा ?"

"हाँ।"

"फिर.....मेरा मतलब है.....।"

"क्या है ?"

"जी, कुछ नहीं—बिल्कुल कुछ नहीं ।"

"उँह, कुछ नहीं—कुछ नहीं तो फिर क्या था ?"

"फिर क्या था ? बस, फिर क्या था मेम साहब, मेरे आगे दो ही रास्ते थे ।"

"दो रास्ते ? कौन से दो रास्ते ? कैसे दो रास्ते ? क्या उसने भी किसी का दामन थाम लिया ?"

"उँह ! दामन थाम लिया——काश कोई ऐसी होती जो किसी का दामन थाम लेती ।"

"ओह ! तो तुमसे किसी ने बेवफ़ाई नहीं की—तब तुम क्या जानो कि किसी की बेवफ़ाई से दिल पर क्या गुज़रती है ?"

"नहीं, मेम साहब ! मैं खूब जानता हूँ ।"

"अरे ! तुमने अभी तो कहा था —।"

"हाँ, कहा था कि मेरी ज़िन्दगी में कोई लड़की नहीं आयी जो मुझसे बेवफ़ाई करती लेकिन मेम साहब, मुझसे उस ज़ालिम ने बेवफ़ाई की है जिसे हासिल करने के बाद दूसरों की वफ़ा और बेवफ़ाई का सवाल पैदा होता है ।"

"ओह ! और वे दो रास्ते क्या हुए ?"

"वे रास्ते—वे रास्ते जो मेरे सामने मुँह फाड़े और बाजू फैलाये खड़े थे, वे दोनों तबाही की तरफ़ ले जाते थे, मेम साहब, दोनों तबाही की तरफ़ ले जाते थे।"

"मगर कौन से रास्ते ? कैसे रास्ते ?"

"भिखमंगी या चोरी।"

"भिखमंगी या चोरी ?"

"हाँ, मेम साहब !

"और मैंने चोरी को भिखमंगी पर तरजीह दी। मैंने चोरी की, भीख नहीं माँगी। इस पर सरकार ने जेल को मेरी आज़ादी पर तरजीह दी और छः माह के लिए मुझे जेल में ठूँस दिया और ठीक ही तो किया।"

"और अब—?"

"अब क्या, मेम साहब ! अब फिर वही तब है।"

"मतलब ?"

"साफ़ है। तब भी मेरे सामने दो ही रास्ते थे और अब भी दो ही रास्ते हैं—भिखमंगी या मौत।"

"और अब तुमने भी मेरी ही तरह मौत का रास्ता अख्तियार किया है !"

"हा हा हा ! हाँ, मेम साहब, आप ही की तरह। हा हा हा...!"

"अरे, तुम इस तरह हँस क्यों दिए ?"

"बस, यूँ ही । वह देखिए मेम साहब, गाड़ी आने का सिग-नल हो गया--बिछुड़ने का वक़्त क़रीब आ रहा है । मेम साहब, मैं आपका शुक्रगुज़ार हूँ जो आपने आख़िरी लम्हे मेरा साथ दिया, जिस साथ के लिए मैं ज़िन्दगी भर तरसता रहा । शायद फांसी के तख़्ते पर चढ़ने से पहले, मेरा मतलब मरने से पहले किसी ने आपको मेरी आख़िरी आरज़ू पूरी करने के लिए भेजा था ।"

"ये तुम कैसी बातें कर रहे हो ? मैं भी तो तुम्हारे साथ ही इस दुनिया को अलविदा कह रही हूँ । अभी एक साथ इंजन के पहिए हमारे सिर को धड़ से जुदा कर देंगे । फिर तुम—!"

"नहीं, नहीं, मेम साहब, ऐसा न कहिए ! हम दोनों ज़िन्दा रह सकते हैं मगर इकट्ठे मर नहीं सकते । मेम साहब, मैं पढ़ा-लिखा हूँ, घर का काम-काज अच्छी तरह कर सकता हूँ । मेम साहब, मैं भूखा हूँ, बेकार हूँ, मुझे अपने यहाँ नौकर रख लीजिए !"

"अरे बुद्धू, मैं इस सुनसान जगह पर रेल की पटरी पर आत्म-हत्या करने आयी हूँ, तुम जैसे अच्छे नौकरों की तलाश करने नहीं आयी । समझे !"

"ओह !"

"लेकिन तुम ख्वाहमख्वाह मरना क्यों चाहते हो ?"

हा हा हा ! मैं मरना क्यों चाहता हूँ ? हा हा हा । मेम साहब ! चाहत और मरना—ये तो दो अलग-अलग चीज़ें हैं, इस रेल की लाइनों की तरह जो हज़ारों मील साथ-साथ चलने पर भी कभी एक दूसरे के साथ मिल नहीं पातीं—चाहत और मरना—मैं और आप । हा हा हा !"

"उफ़ ! जब तुम हँसते हो तो तुम्हारी सूरत और भी डरावनी हो जाती है ।"

"क्या मौत से भी ज़्यादा डरावनी, मेम साहब ?"

"हाँ, मौत से भी डरावनी !"

"हा हा हा ! डरावनी—मौत से भी ज़्यादा डरावनी ! हा हा हा !"

"ओह ! बन्द करो यह बकवास ! माफ़ करना, दो घड़ी की मेहमान हूँ । न जाने मुझे क्या हो गया था जो मैं आपे से बाहर हो गयी ।"

"कोई बात नहीं, मेम साहब, कोई बात नहीं । आपका यह कड़वा लहजा संतरी बादशाह से थोड़ा कम ही मीठा है । तो वह देखिए, मेम साहब, वह बहुत दूर गाड़ी की ज़र्द रोशनी नज़र आने लगी है । मेम साहब, यह ज़र्द रोशनी मौत की ज़र्दी से कितनी मिलती-जुलती है !"

"हां, हां, अलविदा !"

"देखिए, मेम साहब !—नहीं, कुछ नहीं ।"

"कहो, चुप क्यों हो गए ?"

"मेम साहब ! मैं यह कहना चाहता था कि मौत हँसी से कहीं ज़्यादा खौफ़नाक होती है ।"

"होगी—लेकिन मैं तो मरने से पहले एक बार फिर भगवान् से प्रार्थना करती हूँ कि अगर इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में मेरा और रमेश का मिलाप ज़रूर करवाए ।"

"हां, हां, मेम साहब ! बाक्स में बैठने से जटियल फ़िल्मों के डायलाग बहुत आसानी से याद हो जाते हैं, फिर भी मौत हँसी से कहीं ज़्यादा दर्दनाक और तकलीफ़देह होती है । मेम साहब , क्या आप मरने से पहले मेरी एक ख्वाहिश पूरी करेंगी ? देखिए, आप इस गाड़ी के नीचे अपना सिर न दीजिए, अब से पौने दो घंटे बाद इस लाइन पर एक और गाड़ी गुज़रेगी—!"

"मगर क्यों ? यह नहीं हो सकता । मैं इस जुल्म की नगरी में अब एक पल भी जिन्दा रहना नहीं चाहती !"

"लेकिन सुनिए तो, सूरज कब का डूब चुका है । अंधेरा हर पल बढ़ता जा रहा है । इसलिए मैं यह नहीं चाहता कि मरने के बाद मेरी लाश की बेहुर्मती हो । देखिए, आपको तो सिर्फ़ पौने दो घंटे ही और इंतजार करना पड़ेगा

लेकिन मैं इतमीनान से मर सकूँगा।"

"नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता—ऐसा नहीं होगा। अलविदा!"

उसने मेम साहब को एक ज़ोर का धक्का दे दिया और ख़ुद रेल की पटरी पर जा गिरा। गाड़ी ऐन उसी वक़्त फ़र्राटे भरती हुई उसके जिस्म को दो हिस्सों में बाँटती हुई गुज़र गयी। ख़ाक और ख़ून में लुथड़ी हुई लाश को देख कर मेम साहब के मुँह से एक चीख़-सी निकल गयी और उन्होंने दोनों हाथों से अपना चेहरा ढाँप लिया। कुछ देर बाद मेम साहब के पाँव आप-से-आप ग्रांड ट्रंक रोड की ओर उठ गए

—o—

"फ़र्श-ए-मख़मल पे मेरे पाँव छिले जाते हैं"

कन्हैया की शादी में मैं सम्मिलित न हो सका—इसका मुझे बड़ा दुःख था।

एक दिन मैं उससे मिलने तोस हज़ारी गया। वह पटरी पर बैठा गंडेरियाँ काट रहा था। मैं उसे देखते ही दूर से चिल्लाया, "भई कन्हैया, मुबारक हो!

"काहे की, बाबू जी?" उसने बुझी हुई आवाज़ में कहा।

"अरे, तुम्हारी शादी ख़ाना-आबादी की, और काहे की!" फिर मैंने उसे ग़ौर से देखते हुए पूछा, "कन्हैया, क्या बात है? आज तुम्हारा चेहरा क्यों उतरा हुआ है?"

"क्या पूछते हो, बाबू जी! मैं मजदूर आदमी हूँ और वह नवाबजादी है।"

मैंने कहा, "आख़िर बात क्या है?"

"बात क्या होनी है, बाबू जी! लुगाई हराम-जादी है। आज सवेरे कहने लगी कि मुझे तो रात भर नींद नहीं आयी। मैंने कारण पूछा तो बाबू जी, एक मरी हुई तितली दिखाते हुए बोली कि यह रात भर मुझे खेस के नीचे से चुभती रही है।"

*

हैंगर

मेरे अभिन्न मित्र जीत और मोहन जब आगरा से आने वाली गाड़ी से नीचे उतरे तो उस समय मैं उनके स्वागत के लिए स्टेशन पर उपस्थित था। दोनों मित्र मुझसे हर्षपूर्वक गले मिले। ख़ैर-ख़ैरियत पूछने के बाद जीत अपने मख़सूस पंजाबी लहजे में, जिसमें व्यंग्य के अतिरिक्त हँसी भी शामिल थी, आगरा के लोगों के रहन-सहन, उनके कुछ परम्परागत रस्मो-रिवाज और ताजमहल की अद्वितीय सुन्दरता, उसके आस-पास के रमणीक दृश्यों का वर्णन करने लगा। लेकिन मेरी नज़रों के साथ-साथ मेरे ख्यालात भी एक ऐसे लम्बे आदमी पर केन्द्रित हो गए जिसे नौजवान कहते हुए मेरा हृदय काँप-काँप जाता है। यद्यपि उसने अड़ाई मन के वज़नी ट्रंक अपने सिर पर उठा रखे थे—वह पैंट-कोट पहने हुए था लेकिन उसके चेहरे पर वहशत और नहूसत के भाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होते थे।

"तुम किस सोच में पड़ गये ?" जीत ने एक ज़ोर का धप्पा मेरे कन्धे पर दे मारा, तो मैं यूँ हड़बड़ा उठा जैसे किसी ने मुझे गहरी नींद से झिंझोड़ दिया हो।

"एँ, क्या कहा तुमने ? मोहन ने आश्चर्य-मिश्रित स्वर में पूछा, "अरे भई, उधर क्या देख रहे हो ?"

"यार, मैं हिन्दुस्तान में दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई बेकारी के बारे में सोच रहा हूँ," मैंने संभल कर दार्शनिक ढंग में जवाब दिया और फिर गाड़ी के एक डिब्बे के दरवाज़े में खड़े एक आदमी की तरफ़ इशारा करते हुए कहा—"वह देखो ! एक ख़ानदानी शरीफ़ आदमी भी आज पेट के जहन्नुम में इंधन झोंकने की ख़ातिर इकट्ठे तीन ट्रंक सिर पर उठाये खड़ा है।"

मोहन और जीत ने जब घूम कर उसकी ओर देखा तो दोनों मारे हँसी के लोट-पोट हो गए और कुछ क्षणों के बाद इस निरन्तर हँसी की तान तोड़ते हुए जीत ने कहा, "अरे, यह कोई कुली नहीं है बल्कि हमारा 'लौंचड़ा' हरनाम है।"

इस पर मोहन ने जीत को एक हलका-सा मुक्का रसीद किया और उसके कथन का विरोध किया। "नहीं, यार ! हर-नाम को लौंचड़ा कह कर हम अपने मशहूर लौंचड़े ओमप्रकाश ऊर्फ़ रोटी का अपमान नहीं कर सकते।"

यह 'लौंचड़ा' शब्द अगर आप शब्द-कोष में तलाश करेंगे तो आपको निश्चय ही निराशा होगी क्योंकि इस शब्द के निर्माता मोहन और जीत हैं, जिसका अर्थ वज़न उठाने वाले के होते हैं।

"भई, अब के इस लौंचड़े को अपने साथ आगरा ले जा कर हम बहुत पछताये।" जीत ने हरनाम को देख कर अपनी बेज़ारी का इज़हार किया तो मोहन ने भी उसकी हाँ में हाँ मिलायी।

"हाँ भाई नारंग, इसमें कोई शक नहीं। जहाँ तक वज़न उठानें का सवाल है, हरनाम से हमें कोई शिकायत नहीं है लेकिन जहाँ तक अपनी जेब से पैसे खर्च करने का सम्बन्ध है, इस कमबख्त ने हमें भी चूना लगाया।"

हरनाम चूँकि जीत के साथ आया था, इसलिए जीत ने पेशबन्दी के तौर पर इस इल्ज़ाम से अपना दामन बचाना चाहा। तुरंत बोल उठा, "मैं तो हरनाम को पहले ही जानता था कि यह अव्वल दर्जे का लीचड़ आदमी है।"

"अरे! अगर तू पहले ही जानता था तो फिर इस सुसरे को अपने साथ क्यों ले आया था?" मोहन को अब क्रोध आ गया था। "गाड़ी में तो तू कहता था कि ट्रंकों के वज़न के साथ-साथ यह हमारा भी वज़न उठाएगा!"

जीत ने मरी हुई आवाज़ में कहा, "भाऐ, मुझे क्या पता था कि हरनाम हमारा वज़न हमारे आर्थिक वज़न को हलका करने के बाद उठाएगा! और फिर मैं हरनाम को अपने साथ कब लाया था?"

"तुम नहीं लाए थे तो वह खुद कैसे आ गया था?"

मोहन ने जीत को झुठलाना चाहा।

"मोहन भाषे, पहले तुम मेरी पूरी बात तो सुन लो !"

जीत ने बड़े सन्तोष के साथ कहा, "यह यूँ हुआ कि जब हरनाम को पता चला कि मैं आगरा जा रहा हूँ तो वह भी अपना ट्रंक मेरे घर ले आया और फिर जबरदस्ती मेरे ट्रंक को अपने ट्रंक के ऊपर रख कर सीधा स्टेशन भाग आया।"

इधर हरनाम दास ने हमें देख लिया था। अतएव वह भारी बोझ से दबता हुआ जहाँ पर हम खड़े थे, आन पहुँचा। जीत ने आगे बढ़ कर एक हाथ से हरनाम का हाथ ट्रंक के कुंडे से छुड़वा कर मेरे हाथ से मिलाते हुए शरारत-आमेज़ हँसी को अपने होठों में दबाते हुए हर्षित स्वर में हरनाम से कहा—"आप से मिलिए, मेरे प्रिय मित्र नारंग !"

इस पर हरनाम ने हाथ मिलाते हुए मेरे छोटे-से हाथ को अपने देहाती और लोहारी ख़लूस से पहले बड़े ज़ोर से दबाया और फिर बड़ी मज़बूती से यूँ पकड़ लिया जैसे मैं भी जीत का कोई ट्रंक था और मेरा हाथ उस ट्रंक का एक कुंडा।

मैंने अपना हाथ छुड़ाने के लिए विनम्र स्वर में कहा, "हरनाम जी ! मुझे आप से मिल कर और आपको देख कर हैरत-अंगेज़ और हैरत-आमेज़ खुशी हुई है।"

इस पर एक भयंकर हँसी उसके हैवानी जबड़ों पर नमू-

दार हुई। उसने मेरे हाथ को और भी मज़बूती से पकड़ लिया और ख़ुशी की हालत में झटके दे कर अपनी तरफ़ ऐसे ही खींचने लगा जिस तरह उसने मोहन के वज़नी ट्रंक को भीड़ में गाड़ी से खींच कर बाहर निकाला था।

जीत और मोहन इस बीच कहक़हे उछालते रहे और मेरी बेबसी पर दिल-ही-दिल में कुढ़ते भी रहे। आख़िर जीत ने मुझे इस मुसीबत से नजात दिलवानी चाही और वह हरनाम के ट्रंक की तरफ़ इशारा करते हुए बोला, "नारंग साहब, आप से मिलिए! आप हैं हरनाम दास जिनकी मैं अभी-अभी तारीफ़ कर रहा था।"

तारीफ़ का शब्द सुन कर हरनाम के मुँह से राल टपकने लगी, चुनाँचे उसने मेरा हाथ छोड़ दिया और अपनी राल पोंछते हुए विनम्र भाव से मुझसे पूछने लगा, "बताइए, नारंग साहब! जीत ने मेरी क्या तारीफ़ की थी?"

इस डर से कि कहीं वह मेरा हाथ दोबारा न पकड़ ले, मैं चन्द क़दम पीछे हट गया। मोहन मेरे पीछे हटने की वजह भाँप गया था, इसलिए उसने हरनाम का हाथ पकड़ कर पहले ज़रा ज़ोर से दबाया तो हरनाम दर्द से कराह उठा क्योंकि मोहन भी ज़रा पहलवान क़िस्म का आदमी था और फिर उसने हरनाम के हाथ को ऊपर ले जा कर ट्रंक के एक कुंडे में फँसा दिया।

हरनाम के मुँह से राल फिर टपकने लगी। "मैं सच

कहता हूँ, नारंग साहब, मैं इनकी तारीफ़ के बिल्कुल क़ाबिल नहीं हूँ—फिर भी आप कुछ तो बताएँ कि इन्होंने मेरी तारीफ़ किन शब्दों में की थी ?"

मैं असमंजस में पड़ गया कि अब हरनाम को क्या बताऊँ कि जीत उसके बारे में क्या कह रहा था। चुनाँचे मैंने बात को हँसी में ही टालना चाहा लेकिन हरनाम ने फिर पूछा, "बताइए भी ना, नारंग साहब ! देखिए, आपको मेरे.....?"

"इन ट्रंकों की क़सम !" मोहन ने झुँझला कर वाक्य पूरा कर दिया। "अरे, हम तेरी क्या तारीफ़ करेंगे ! जीत कह रहा था कि तुम वज़न उठाने में जितने दिलेर हो, फूटी कौड़ी ख़र्च करने और असली लड़ाई लड़ने में उतने ही कायर हो।"

अब मोहन ने हरनाम की तरफ़ देखने की ज़रूरत भी महसूस न की और वह ऊँची आवाज़ में 'कुली-कुली' पुकारने लगा क्योंकि ऐसी हालत में कोई भी कायर किसी ऐसे व्यक्ति का बोझा उठाने के लिए तैयार नहीं होता जबकि उसकी तारीफ़ में भी बुराई की गयी हो। हरनाम ने तीनों ट्रंक प्लेट-फ़ार्म पर रख दिये और फिर अपना ट्रंक दरमियान से निकाल कर अपने सिर पर उठा लिया। मुझे हरनाम के साथ कुछ सहानुभूति-सी हो गयी क्योंकि एक तो उसने जीत और मोहन के ट्रंक उठाये, दूसरे उसके मुँह पर ही उस को कंजूस,

कायर और बोझ उठाने वाला बता दिया। विवश होकर मैंने मोहन और जीत को बड़े प्यार से डांट बतलायी—"देखो भई! यह बात आपको शोभा नहीं देती कि आप हरनाम के साथ उपेक्षापूर्ण व्यवहार करें। आख़िर हरनाम आपका दोस्त है.....!"

मोहन बात को काटते हुए बोल उठा, "इसे हमारा दोस्त नहीं, लौंचड़ा कहिए, लौंचड़ा!"

मगर मैंने बड़ी विनम्रता से अपनी बात जारी रखी, "चलो यूँ ही सही। शब्दों के हेरफेर से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। हाँ, तो मैं सिर्फ़ यही कहना चाहता हूँ कि आप को हरनाम का कुछ लिहाज़ रखना चाहिए।" फिर मैं हरनाम से मुख़ातिब हुआ, "हरनाम! तुम भी यार, ऐसी छोटी-छोटी बातों का बुरा न मनाया करो। यारों में तो ऐसी छोटी-छोटी बातें प्रायः होती ही रहती हैं।"

बात रफ़ा हो गयी और आये हुए कुली को भी जीत न सिर के इशारे से दफ़ा कर दिया—मोहन ने बड़ी शोख़ आवाज़ में हरनाम को फिर से ट्रंक उठाने की दावत दे दी और अमली तौर पर उसकी सहायता करते हुए अपने दोनों ट्रंक उसके सिर पर रख दिये।

हरनाम की विवशता पर मुझे दया आ रही थी। शायद मैं उससे बहुत-सी बातें करना चाहता था लेकिन उसने बोझ उठा रखा था। मुझे कोई ऐसा विषय नहीं मिल रहा था

जिसको ले कर मैं बातचीत का क्रम आगे बढ़ाता । उधर स्टेशन के गेट पर बाहर जाने वाले लोगों की संख्या अधिक थी और उनकी लाइन बहुत लम्बी थी । इसलिए समय बिताने के उद्देश्य से मैंने हरनाम से पूछा, "कहिए, आगरे का ताजमहल कैसा लगा ?"

वह अपनी बहती हुई नाक सुकेड़ कर बोला, "बस जी, कुछ मत पूछिए ! मेरा जी तो यह चाहता है कि मैं भी ऐसा ही ताजमहल राज़ी मण्डी में बनवा डालूँ ।"

जीत ने बेसाख्ता क़हक़हा लगाते हुए फ़िकरा चुस्त किया, "हरनाम दास, तुम तो ताजमहल भी उधार ही बनवाओगे ।"

इस पर हरनाम का मुँह फ़क्क हो गया और वह भारे बोझ के दबता हुआ क़रीब-क़रीब उकड़ूँ हो कर एक-एक इंच खिसकता हुआ स्टेशन से बाहर चला गया ।

"भई, यह उधार वाली बात मेरी समझ में नहीं आयी !" मैंने जीत से दो-तीन बार दरियाफ़्त भी किया मगर हर बार जवाब में वह मुसकरा दिया क्योंकि वह अपनी आदत से मजबूर था और किसी के पीठ पीछे कुछ कहना वह अपनी शान के खिलाफ़ समझता था ।

मगर यह उधार वाली फाँक मेरे सीने में अटकी रही और मुझे उसकी निरंतर पीड़ा बनी रही ।

एक दिन मैं अपनी चची से मिलने भोगल गया तो क्या

देखता हूँ कि हरनाम भी सिर झुकाए फ़िल्म 'नागिन' का गाना गाते हुए चला जा रहा था—मैंने उसे पुकारा और भोगल आने का कारण पूछा तो कहने लगा, "पाकिस्तान में हमारी एक जागीर थी, उसके बदले में हमें नौ मुरब्बे ज़मीन और एक बाग़ मिला है और उसके प्रबन्ध करने के सिलसिले में आज यहाँ आया हूँ।"

मुझे चूँकि ताजमहल उधार बनाने वाली बात अब तक याद थी, इसलिए मुझे हरनाम के बयान पर शक गुज़रा और मैं बज़ाहिर लापरवाही से पहले आगे बढ़ गया और फिर एक पेड़ की ओट में खड़े हो कर हरनाम को दूर तक जाते देखता रहा। जब वह मोड़ से मेरी नज़रों से ओझल हो गया तो मैं भी उसके पीछे लपका। आगे जा कर क्या देखता हूँ कि हरनाम एक पेड़ के नीचे गरदन झुकाये बैठा है और एक नाई उसकी हजामत बना रहा है। मैं फ़ौरन समझ गया कि ज़मीन और बाग़ का प्रबन्ध सिर्फ़ हजामत के प्रबन्ध तक ही सीमित है। मैं वहाँ से अभी वापिस मुड़ने को ही था कि नाई ने बड़ी फुर्ती से हरनाम के सिर पर अपना उस्तरा फेर दिया। हरनाम ने जब अपने सिर पर हाथ फेरा तो उसे नाई के हाथ की सफ़ाई कुछ कहते हुए सुनायी दी। वह पंजे झाड़ कर पंजों के बल खड़ा हो गया और चिल्ला-चिल्ला कर अपने ग़मो-गुस्से का इज़हार करने लगा। आस-पास के लोग जमा हो गए। हरनाम अपने सिर पर हाथ फेरता जाता था और रोता जाता था। इस हड़बड़ाहट में कान पड़ी सुनायी

न देती थी। इसलिए अब मैंने वहाँ जाना उचित समझा। मैंने जाते ही हरनाम से पूछा कि यह क्या माजरा है ? वह अपने सिर पर हाथ फेरते हुए और अपनी उँगलियों से सिर के कुछ ख़ास हिस्से टटोलते हुए रुंधे स्वर में बोला, "देखिए ना नारंग साहब, इस नाई के बच्चे ने मेरे सिर का क्या हाल बना डाला है ! मैंने अंग्रेज़ी तर्ज़ की हजामत बनाने को कहा था और इस हरामज़ादे ने मेरा सिर मूँड कर सीताफल बना दिया है।"

"चलो अच्छा हुआ, एक धार्मिक चीज़ बन गयी !" मैं यह अभी कहने ही वाला था कि नाई से गाली बरदाश्त न हुई। उसने हरनाम को एक धौल जमा दी। "हरामज़ादा तू और तेरा बा...प।"

मैंने शीघ्रता से आगे बढ़ कर नाई के मुँह पर हाथ रख दिया। "भई, गाली देने से क्या फ़ायदा ! आख़िर पता तो चले कि तुमने इसका सिर इस बेदर्दी से क्यों मूँडा है ?"

इस पर नाई दुःखित स्वर में बोला, "बाबू जी ! क्या आपको नहीं मालूम कि इसका नाम 'हराम' है। देहली में कोई भी हज्जाम ऐसा नहीं जिसका इसने उधार न देना हो। उधार हजामतें बनवाने के बाद अब न तो यह किसी के पास ही जाता है और अब नाहीं कोई इसकी हजामत बनाता है।

यह सुन कर मुझे उस नाई पर बड़ा ग़ुस्सा आया। मैंने

उससे चमक कर पूछा, "तुम्हें दूसरों से क्या, तुम्हारा तो इसने कुछ नहीं देना !"

नाई ने भी अपनी आस्तीन चढ़ाते हुए तुनक कर जवाब दिया, "अजी, देना कैसे नहीं ! मैं भी तो इससे तंग आ कर देहली से भोगल चला आया हूँ।"

मुझे बेसाख्ता हँसी आयी लेकिन मैं उसे रोक गया क्योंकि मुझे हरनाम की मौजूदगी का अहसास था। मैंने बड़ी गम्भीरता के साथ हरनाम से कहा, "यार, अगर यही बात थी तो तुम इस नाई के पास हजामत बनवाने ही क्यों आये थे ?" लेकिन हरनाम की बजाय नाई ने फ़ौरन जवाब दिया, "बाबूजी, उधार करने के बाद यह तो सूरत पहचानना ही भूल जाता है, और फिर अब तो इसे इतने सारे लोगों के पैसे देने हैं कि अब इससे सूरतें भी पहचानी नहीं जातीं।"

यह कह कर नाई ने अपना बोरिया लपेटा, सामान को डिब्बे में डाला और उसे बग़ल में दाब कर उठ खड़ा हुआ। गर्व से अपनी गरदन तान कर हरनाम की तरफ़ इशारा करते हुए बोला, "आज ही मेरे हत्थे चढ़ा ! बच्चा जी को मूंड डाला। बाबू जी, अब मैं फिर देहली जा रहा हूँ।" और वह व्यंग्यात्मक हँसी हँसता हुआ चला गया।

अब मैंने हरनाम से ज़मीन और बाग़ के प्रबंध के बारे में कुछ पूछना मुनासिब न समझा, सिर्फ़ एक बार ग़ौर से उसकी तरफ़ देखा। अब मुझे उसकी आँखों में बेबसी के आँसू दिखायी

दे रहे थे। मैंने हरनाम को तसल्ली देने के स्वर में कहा, "चलो, अब तुम फिर इस नाई को भूल जाओ और आओ, बस में देहली चलें !"

कहने लगा—"नहीं, नारंग साहब ! आप बस में जाएँ। मैं तो टैक्सी में ही आऊँगा।"

टैक्सी के शब्द पर उसने एक ज़ोर की हिचकी ली, हालांकि मैंने उसे आती बार एक रेड़े से उतरते देख लिया था जिस पर सब्ज़ी मंडी में सब्ज़ी ढोयी जाती है। इसके बावजूद मैंने हरनाम से कुछ कहा और बस पर सवार हो गया।

कुछ दिनों के बाद मुझे पता चला कि हरनाम ने घर जाने से पहले गली में से एक ईंट उठायी और उसे दीवार के साथ रगड़ कर उसकी सुर्खी का टीका अपने ऊबड़-खाबड़ माथे पर लगाया और घर जा कर मुहल्ले भर में यह बात मशहूर कर दी कि वह आध्यात्मिक शांति के लिए सिर मुंडवाना आवश्यक समझता था। मुहल्ले की कुछ बूढ़ी औरतें भी उसे देखने आयीं लेकिन मुँह में पल्लू ठूँस कर अपनी हँसी को रोकती हुई चली गयीं। और हरनाम की ज़बरदस्त उम्मीद के ख़िलाफ़ मुहल्ले की कोई भी जवान लड़की उसे देखने न आयी।

कुछ समय के बाद जब हरनाम के सिर के बाल फिर से बढ़ गए तो उसने पहले की तरह फिर से गलियों के चक्कर

काटने शुरू कर दिए। एक दिन वह मेरे पास आया। उसके हाथ में एक नयी नैकटाई थी जिसे वह अपनी उँगलियों पर लपेटे हुए था। बड़ी अदा से नैकटाई को सूँघते हुए कहने लगा—"आज मैं कनाट प्लेस जा रहा हूँ।"

"क्यों ?" मैंने आश्चर्य-मिश्रित स्वर में पूछा।

वह नैकटाई को बड़े सलीक़े से अपनी बड़ी दो उँगलियों पर घुमाते हुए बोला—"सुना है कि कनाट प्लेस में जो लोग बन-सँवर कर जाते हैं, उन पर कुछ खूबसूरत लड़कियां मर जाती हैं।"

"अच्छा !" और मैं सचमुच उन सुन्दर लड़कियों के भाग्य के बारे में सोचने लगा।

हरनाम ने अपनी सदाबहार बहती हुई नाक और आँखों को नैकटाई से पोंछते हुए एक ऐसी आवाज़ में कहा जिसमें बेशुमार बैलों की घंटियाँ बज रही थीं—"नारंग साहब, आप मुझे यह टाई बांधना सिखा दीजिए !"

"भई, नैकटाई तो मुझे खुद भी बांधनी नहीं आती," यह कह कर मैंने अपनी विवशता प्रकट की।

पहले तो वह उदास हो गया और फिर उसे मेरी बात पर संदेह हुआ—"आप जब बाज़ार जाते हैं तब तो आपके गले में नैकटाई बंधी होती है।"

अपनी तरफ़ से उसने मुझे झूठ बोलते हुए पकड़ लिया

था, इसलिए मैंने सफ़ाई पेश करना ज़रूरी समझा—"अजी ! अपने पास तो एक ही नैकटाई बंधी हुई रखी है। जब भी कहीं जाना होता है उसे गले में डाल लेता हूँ।"

"अच्छा, तब तो मजा आ गया। कहाँ है वह नैकटाई ?" हरनाम खुशी से यूँ उछल पड़ा जैसे कोई नाई उससे उधार लेना भूल गया हो।

"वह तो यहीं है लेकिन पहले तुम मुझे अपनी यह नैकटाई दे दो।"

हरनाम ने विनम्रता से कहा, "नारंग साहब ! आज यह टाई न माँगिए, कल मैं इसे हमेशा के लिए आपको दे जाऊँगा।"

"लेकिन ऐसा क्यों ?"

"देखिए, आज मैं कनाट प्लेस जा रहा हूँ। अपने तीनों सूट साथ ले जा रहा हूँ। वहां सूट तो बदलता रहूँगा लेकिन टाई सिर्फ़ एक ही गले में रहेगी।" फिर हरनाम कहते-कहते खुद ही शरमा-सा गया। कुछ क्षण चुप रहने के बाद बोला, "लड़कियां समझेंगी कि मेरे पास नैकटाई सिर्फ़ एक ही है। अगर यह नैकटाई भी हाथ में होगी तो उनका यह शक दूर हो जाएगा।"

'और अगर यह नैकटाई हाथ में रहेगी तो क्या उन्हें यह शक न हो जाएगा कि तुम्हें नैकटाई बांधना नहीं आता ?"

मेरी यह बात हरनाम की समझ में आ गयी और उसने अपनी नैकटाई मुझे दे दी। मेरी बंधी-बंधायी पुरानी नैकटाई खुद ले ली और मेरे सामने ही उसे गले में डाल लिया। उस समय वह ऐसा लगता था जैसे किसी 'अन्ना' ने उसके गले में टपकती हुई राल से नये कपड़े बचाने के लिए कोई 'बिब' बांध दी हो।

हरनाम ने घर जाते ही एक खाली ट्रंक लिया जो कि डालडा के डिब्बों का बना हुआ था। उसमें हरनाम ने अपने वे तीनों सूट बड़े सलीक़े से रख लिए जो उसने जामा मस्जिद की पिछली तरफ़ से एक कबाड़िये की दुकान से ख़रीद की गयी फ़ौजी बरांडियों से बनवाए थे। ट्रंक बन्द करके उसने एक झल्ली वाले को उठवा लिया और सब्ज़ी मंडी के घण्टा-घर के क़रीब पहुँच कर उसने एक तांगे वाले को आवाज़ लगायी। तांगे वाला उसके क़रीब आ गया और उसे पहचानते हुए बोला, "कहो जी, कित्थे चलना ए ?"

हरनाम ने टाई को गले में घुमाते हुए हाकिमाना लहजे में कहा, "कनाट प्लेस जाना है और हम को सालिम तांगा चाहिए।"

"सालिम तांगा ?" तांगे वाला चौंका—"ओ बाबू जी ! पहले तो तुम तांगे के पीछे भागा करते थे, आज यह सालिम तांगे की क्या ज़रूरत पड़ गयी है तुमको ?" और फिर जब उसने झल्ली वाले के सिर पर ट्रंक देखा तो समझ गया,

बोला—"अच्छा, ये घी के टीन किसी दुकान पर ले जाने होंगे तुमको !"

हरनाम सिटपिटाया—"क्या बकते हो जी ! तुमको चलना हो तो बोलो !"

"चलना क्यों नहीं है, बादशाहो ! पर जो लूँगा, नक़द लूँगा। उधार नहीं चलेगा तुमको।"

"तो फिर अपनी राह लो। तांगा नहीं चाहिए हमको।"

यह सुनते ही तांगे वाले ने घोड़े को चाबुक लगायी और वह हवा से बातें करने लगा। यूँ मालूम होता था कि वह फिर कभी सब्ज़ी मंडी आने का नहीं।

इधर जब हरनाम ने पीछे मुड़ कर देखा तो उसका ट्रंक सड़क के बिल्कुल बीच पड़ा था और झल्ली वाला भी घोड़े की तरह सरपट भागे जा रहा था।

"भाग गया, बुद्धू कहीं का ! तांगे वाले की बातों में आ गया, हालाँकि घर से यहाँ तक ट्रंक लाने की मज़दूरी मेरे पास देने को थी।" हरनाम ख़ुद ही बुड़बुड़ा रहा था—"चलो, अच्छा ही हुआ जो दूसरे झल्ली वाले को भी ख़बर नहीं दे गया।"

और हरनाम ने जल्दी से एक दूसरे झल्ली वाले को पुकारा और ट्रंक उसे उठवा कर पैदल ही चल दिया। कनाट प्लेस पहुँच कर वह नपे-तुले क़दम उठाने लगा। पहले ही चौराहे पर उसे जो चन्द लड़कियां नज़र आयीं तो वह

पंजाबी मिलीं। उर्दू में अंग्रेजी लहजा पैदा करने की कोशिश करते हुए झल्ली वाले से बोला—"बैल, झल्ली वाला! हमारे ट्रंक विच्च तीन सूट और हैं। हमारी एक नयी टाई हमारे एक दोस्त के पास है। इधर आओ, हम कपड़े बदलना मांगता।"

एक लड़की उसके ट्रंक की ओर देख कर मुसकरायी तो हरनाम का दिल बाग़-बाग़ हो गया। समझा कि बस अब मर गयी। हरनाम बड़ी तेजी से कनाट प्लेस की पिछली तरफ़ चला गया और एक 'यूरिनल' के सामने पहुँच कर उसने झल्ली वाले से अपना ट्रंक नीचे उतरवा लिया। पहला पहना हुआ सूट उतारा, जल्दी से तह कर के उसे ट्रंक में रख दिया क्योंकि उसे डर था कि कहीं वे लड़कियां कहीं और न चली जाएँ। इसलिए बड़ी जल्दी से उसने वह टाई जो कि उसकी गरदन में एक खुले पट्टे की तरह लटक रही थी, उसमें से उसने सिर गुज़ारा, कमीज़ भी उतारी और उसे भी टाई समेत ट्रंक में रख दिया; बनियान और अँगोछा पहने वह कंघी ले कर 'यूरिनल' के अन्दर मुँह धोने चला गया।

इतने में नयी देहली नगरपालिका का ट्रक आ गया। उसमें बैठे हुए सिपाहियों को देख कर झल्ली वाला भाग गया। कमेटी का एक आदमी नीचे उतरा और उसने जल्दी से हरनाम के ट्रंक को उठा कर ट्रक में रख दिया।

हरनाम जब बाहर आया तो उसने ट्रक पर लिखे हुए

एन० डी० एम० सी० के मोटे-मोटे शब्द बड़ी तेज़ी से भागते हुए देखे जिनमें कई झल्लीवालों की शक्लें बनती और बिगड़ती जा रही थीं। बेचारा हरनाम सिर पीट कर रह गया।

लेकिन उस रात जब वह घर जाते हुए सब्ज़ी मंडी के बाज़ार से गुज़रा तो सब जानने-पहचानने वालों ने यही समझा कि उसने आध्यात्मिक शांति के लिए संन्यास ले लिया है।

एक दिन मैं सब्ज़ी मंडी जाने के लिए जब बस में चढ़ा तो क्या देखता हूँ कि हरनाम भी उसी बस में खड़ा है। बस में हालाँकि बहुत-सी सीटें ख़ाली थीं लेकिन वह ज़मीन में गड़े हुए त्रिशूल की भाँति बिल्कुल सीधा खड़ा था। मैंने एक सीट पर बैठते हुए हरनाम से इस प्रकार खड़े रहने की वजह पूछी तो कहने लगा कि सीट पर बैठने से पैंट और कोट की क्रीज़ टूट जाती है। मैंने एक बार उसे सिर से पांव तक बड़े ग़ौर से देखा तो वाक़ई उसने कोट और पैंट की तहों के अनुसार अपने शरीर के अंगों को ढीला छोड़ रखा था।

उस समय हरनाम को देख कर कोई यह नहीं कह सकता था कि उसने कपड़े पहन रखे हैं बल्कि ऐसा मालूम होता था कि कपड़ों ने उसे पहन रखा है और उसे इस तरह खड़ा देख कर मेरी आँखों के सामने लांडरी का वह 'शो केस'

घूम गया जिसमें एक हैंगर पर धुला हुआ सूट टँगा होता है।

फिर मैंने दिल-ही-दिल में सोचा—हरनाम भी तो दुनिया के 'शो केस' में एक चलता-फिरता हैंगर ही तो है जिस पर किसी लांडरी ने अपनी धुलाई की प्रसिद्धि के लिए ये कपड़े टांग रखे हैं या फिर हरनाम बनिये की वह तार है जिसमें उधार-खाते के बिल पिरो दिए जाते हैं।

—०—

आज्ञाकारी

हमारे मुहल्ले में एक मुक्कामार क़िस्म के महाशय अपने कुत्ते को यूँ बुला रहे थे, "मोती—मोती आओ—आओ, मोती बेटा !"

मैं पास से गुज़र रहा था, इसलिए चुप न रह सका। "आ जाओ, मोती ! अब तो तुम्हें, तुम्हारे पिता जी पुकार रहे हैं।"

और वह आ गया।

तू कौन ? मैं ख़्वाहमख़्वाह

मैं कालेज जा रहा था कि एक साहब ने मुझे कंधे से पकड़ कर झिंझोड़ डाला। "क्यों साहब, यह ख़ूबसूरत कुत्ता आपका है ?"

मैंने निवेदन किया—"जी नहीं।"

"पीछे तो आपके ही आ रहा है।" उन्हें मेरी बात पर शक हुआ तो मैंने मुसकराते हुए कहा, "जी, पीछे का क्या है—पीछे तो आप भी मेरे आ रहे हैं।" इस पर उन्होंने मुझे काट खाया और मैं कालेज जाने की बजाय म्युनिसिपल कमेटी के अस्पताल में टीका लगवाने चला गया।

धर्मवीर

श्री जानकीनंदन शास्त्री जी ने माथे पर चन्दन का बारह-कठाल बनाने के बाद राम-नाम का पटका कांधे पर बड़ी अहतियात से फैलाया और दिल में यह पक्का इरादा कर के वह घर से निकल पड़े कि आज वह कम-से-कम दस धर्मवीर ज़रूर तलाश करेंगे और निश्चित कार्यक्रम के अनुसार शाम को 'बकरी-हत्या' के विरुद्ध एक बहुत बड़ा जलूस निकालेंगे।

शहर के गली-कूचों और बाज़ारों की ख़ाक छानते-छानते दोपहर हो गयी लेकिन शास्त्री जी के हत्थे एक भी आदमी न चढ़ा, इस पर उन्हें बड़ा दुःख हुआ क्योंकि उन्हें वीर संघ के केन्द्रीय कार्यालय से दस रुपये फ़ी आदमी कमीशन के मिला करते थे।

आख़िरकार थक-हार कर वह यमुना स्थित वीर संघ के कार्यालय में चले गए। वहाँ पर कुछ देर विश्राम करने के बाद जब वह स्नान करने के उद्देश्य से यमुना पर गए तो उनकी दृष्टि सामने बैठे हुए एक ऐसे व्यक्ति पर जा पड़ी जो

अपनी फटी हुई कमीज़ के कालरों में से जूँएँ नि
कर अपने अँगूठे के नाखून पर रख कर मार रहा

शास्त्री जी के दानों पानी पड़ गया। उन्हों
साँस लिया क्योंकि उन्हें अपने शिकार की खूब पह
इसीलिए उन्हें इस बात का पूरा विश्वास था कि
उनके जलूस में ज़रूर शामिल होगा। शास्त्री
क़रीब गए और अपनी छड़ी से गीली रेत पर ओ
करते हुए बोले—"तुम्हें आज भूख तो लगी होगी

"भूख—! जी, वह तो कल ही से लग रही

"तो फिर क्या तुम 'वीर संघ' में प्रवेश करोगे

बड़ी तेज़ी से जूँएँ तलाश करती हुई उसकी
रुक गयीं और उसने बालों की उस लट को जो
गाल पर चिलमन की तरह पड़ी हुई थी, पीछे
और मरी हुई आवाज़ में बोला—"क्या वहां
मिलेगी ?"

हाँ बच्चा, क्यों नहीं ! प्रभु ने जब पेट दिय
इसको भरने के लिए भी अवश्य देगा।"

"तो फिर जल्दी चलिए ! मैं तो दो दिन से
बैठा हूँ।"

भूख की तीव्रता के कारण उसके स्वर में
थी और वह अपने मैले कपड़ों को 'बुक्ची' को ब

कर शास्त्री जी के पीछे-पीछे चल पड़ा। घाट की सीढ़ियां चढ़ने के बाद उसका सांस फूल गया लेकिन रोटी मिलने की आशा ने उसे दम लेने का अवकाश न दिया। वह चलता ही गया, यहाँ तक कि वह वीर संघ के केन्द्रीय कार्यालय में पहुँच गया। वीर संघ के दरवाजे में दाखिल होते ही जब उसे रोटियों के पकने की सोंधी-सोंधी खुशबू आयी तो उसकी नाक के नथने बिल्कुल उसी तरह फड़फड़ाने लगे जिस तरह बारिश में भीगी हुई चिड़िया धूप में अपने पर फड़फड़ाती है।

उसकी भूख और भी चमक उठी और उसने खुश्क होठों की पपड़ियों को अपनी खुश्क ज़बान से तर करने की नाकाम कोशिश करते हुए शास्त्री जी से सहमी हुई आवाज़ में पूछा, "रोटी तो पक रही है—क्या दाल-भाजी भी पक रही है ?"

शास्त्री जी ने अपनी चमकती हुई और काजल से मुस-कुराती हुई आँखों से उसकी तरफ़ देखा और फिर अपने दाएँ हाथ से उसकी पीठ थपथपाते हुए बोले—"बच्चा, घबराओ नहीं ! दाल यहां रोटी पकाने से पहले ही पका ली जाती है।"

"तो फिर मुझे सिर्फ़ दो रोटी दिला दीजिए ! मैं....."

"हाँ, हाँ, क्यों नहीं !" शास्त्री जी ने उसकी बात को काटते हुए कहा—"बस हां, अब तुम जरा जल्दी से धर्मवीर बन जाओ !"

"धर्मवीर !" वह हैरानी से बोला—"जी, वह तो अब मैं बन ही गया हूँ।"

इस पर शास्त्री जी के पेट में अकारण ही हँसी का एक गोला घूमने लगा। "आर्यवीर, अभी तो तुमने यज्ञोपवीत भी ग्रहण नहीं किया, फिर तुम धर्मवीर कैसे बन गए ?"

"जी, आप जो कहेंगे मैं वही कर लूँगा, पहले आप मुझे एक रोटी दिलवा दीजिए।"

"धैर्य रखो, इतने उतावले न बनो !" और यह कहते हुए शास्त्री जी ने ऊँची आवाज़ में पुकारा—"धर्मवीरो !"

अकस्मात सामने ही बांस के बने हुए कमरे का दरवाज़ा खट से खुला और उसमें से छः धर्मवीर भागते हुए आए और उन्होंने आते ही शास्त्री जी के चरणों को छूते हुए प्रणाम किया।

वह यह सब देख कर हैरान रह गया क्योंकि उन सब धर्मवीरों के सिर मुँडे हुए थे और उनकी घुटी हुई खोपड़ियां तेल से चमक रही थीं। एक क्षण के लिए उसका दिल चाहा कि वह उन सब पर एक बार हाथ फेर कर देखे। अभी वह ऐसा सोच ही रहा था कि शास्त्री जी ने एक धर्मवीर से कहा—"आर्यबंधु, तुम जा कर जल्दी से 'नथवा' नाई को बुला लाओ और उसे कहो कि अपना उस्तरा ले कर आ जाए।"

नाई का नाम सुनते ही उसे एक झटका-सा महसूस हुआ और उसका हाथ स्वयमेव अपने सिर पर पहुँच गया—फिर उसकी उँगलियां उन बढ़े हुए और उलझे हुए बालों से खेलने लगीं और उसे 'प्रीतू भटियारिन' की याद आ गयी जो उसे अक्सर कहा करती थी कि तुम्हारे बाल तो बिल्कुल फ़िल्म के छोकरों की तरह हैं—लेकिन इतने में एक नाई अपने हाथ पर उस्तरा चमकारते हुए आ गया।

सभी धर्मवीर दो पंक्तियों में अपने-अपने आसनों पर बैठ गए। नाई ने शास्त्री जी की तरफ़ देखा—शास्त्री जी ने आँख मारी और नाई ने आगे बढ़ कर उसे गरदन से दबोच लिया।

उसने अपने आपको बेबस जान कर कोई विरोध नहीं किया। अपनी गरदन को नाई के रहम-ओ-करम पर बिल्कुल ढीला छोड़ दिया और नाई उसके सिर को अपनी इच्छानुसार इधर से उधर घुमाने लगा। उसकी गरदन की लचक पर नाई को अपनी स्प्रिंग वाली वह कुर्सी याद आ गयी जिसे वह पाकिस्तान में छोड़ आया था और उधर उसे वह भटियारिन बेअख्तियार याद आने लगी जो उसके बालों की प्रशंसा किया करती थी।

नाई और उसकी यादों का सिलसिला उस समय टूटा जब शास्त्री जी अपने आसन से इस तरह उछल पड़े और चिल्लाये जैसे किसी बिच्छू ने उन्हें काट लिया हो।

"घोर अनर्थ कर दिया ! नथवा, तुम पापी हो ! अरे, तुम ने इसका आधे से ज्यादा सिर मूंड दिया है और अभी तक चोटी नहीं रखी ?"

नथवा ने उसके सिर का ग़ौर से जायज़ा लेते हुए खेद-पूर्ण स्वर में कहा—"जी हाँ, शास्त्री जी ! गलती हो गयी है।"

"हूँ, गलती हो गयी है !" शास्त्री जी ने 'हूँ' ऐसे कहा जैसे उन्होंने कोई कड़वी गोली जो कि उनके गले में फँसी हुई थी, उगल दी हो। "अबे ! तुझे यह भी स्मरण नहीं रहता कि यह चोटी 'वीरता' का प्रतीक है; और फिर हम रोज तुम से दो-तीन सिर मुँडवाते हैं। अगर यह धर्म-कार्य भी तुम भली-भांति सिद्ध नहीं कर सकते तो हम स्वयं कर लिया करेंगे।"

नाई ने गिड़गिड़ा कर इल्तिजा की—"जी, अब की बार भूल माफ़ करें, आगे ऐसा नहीं होगा।" फिर नथवा ने उसके सिर को शास्त्री जी की ओर घुमाते हुए कहा—"जी बता-इए, अब इसका क्या करूँ ?"

"अरे, करना क्या है !" शास्त्री जी दूर से ही अपनी छड़ी से उसके सिर पर जगह ठनकारते हुए बोले, "अब तुम चोटी यहाँ रख दो।"

नथवा ने जल्दी से उसका बाक़ी सिर मूंड दिया और

बतायी हुई जगह पर एक चोटी रख दी।

जब उसने अपनी खोपड़ी पर डरते-डरते हाथ फेरा तो उसका जी चाहा कि वह धाड़ें मार कर रो दे लेकिन इससे पहले वह अपनी सूरत शीशे में देखना चाहता था।

"भैया, ज़रा शीशा तो दिखा दो !"

इस पर नाई तो चुप रहा मगर शास्त्री जी बोले—"आर्यबन्धु, शीशे का उपयोग करने से मनुष्य में शृंगार की लालसा उत्पन्न हो जाती है।"

और वह सामने बैठे अन्य धर्मवीरों की मुँडी हुई और तेल से चमकती हुई खोपड़ियों की ओर देखते हुए अपने सिर को उँगलियों से टटोल-टटोल कर उनसे अपनी तुलना करने लगा लेकिन जब उसकी उँगली का खड़ी हुई चोटी से स्पर्श हुआ तो उसे ऐसा लगा जैसे उसने बिजली के किसी नंगे तार को छू लिया हो या किसी ऐसे तरबूज़ को ख़रीद लिया हो जिसकी डंडी बीच की बजाय एक तरफ़ को निकली हुई हो। दिल पर जब्र करके उसने अपनी खड़ी चोटी को बड़े प्यार से दो उँगलियों की पकड़ में ले कर नीचे बिठा दिया लेकिन वह फिर एक स्प्रिंग की तरह खड़ी हो गयी। उसने दोबारा हाथ की हथेली से चोटी को अपनी मुँडी हुई खोपड़ी के साथ चिमटाने की कोशिश की मगर चोटी ने फिर खड़े हो कर उसकी कोशिश का मुँह चिढ़ाया तो उसने अपनी बड़ी उँगली पर थूक लगा कर चोटी को गीला किया और

फिर उसे खोपड़ी के साथ चिमटा दिया और वह चिमट गयी। इस पर उसने चैन की साँस ली और शास्त्री जी से दर्द भरी आवाज़ में पूछा—"जनाब !"

"जनाब क्या !" शास्त्री जी ने उसे टोका, "आर्यमित्र कहो, आर्यमित्र !"

"आर्यमित्र, मारे भूख के मेरा दम निकला जा रहा है। अब तो एक रोटी दिलवा दीजिए !"

इस पर शास्त्री जी अभिमानपूर्वक मुसकराये। "एक रोटी की क्या बात करते हो, तुम्हारे आगे तो रोटियों का ढेर लगा दूँगा।"

"रोटियों का ढेर ! मैं उन्हें खा भी सकूँगा ?" उसे इस बात का विश्वास नहीं हो रहा था।

शास्त्री जी ने उसके शक को दूर करना चाहा—"अरे, खाने के लिए नहीं तो और क्या तुझ से बेचने के लिए कह रहा हूँ !"

"तो फिर यह देरी काहे की है ?"

शास्त्री जी अपने आसन से उठ कर हवन कुंड के सामने आ कर बैठ गए और अपने पास बुलाते हुए बोले, "देरी अब केवल तुम्हारे यज्ञोपवीत धारण करने की है।"

"ज़रा जल्दी कीजिए !" और वह उनके पास आ कर बैठ गया।

शास्त्री जी ने मुश्ककाफ़ूर की एक टिकिया को दियासलाई दिखायी जो कि हवन कुंड में रखी हुई छोटी-छोटी लकड़ियों के बीच में पड़ी हुई थी।

लकड़ियाँ सुलगने लगीं और भूख उसे जलाने लगी। उसे ऐसा अनुभव होने लगा कि जैसे कोई उसकी अंतड़ियों को किसी तेज़ औज़ार से काट रहा हो।

शास्त्री जी ने गायत्री मंत्र का जाप शुरू किया और लकड़ियों पर ख़ालिस डालडा घी का एक चम्मच भर कर डाल दिया। हवन कुंड में आग एकदम भड़क उठी और संयम का आँचल उसके हाथ से छूट गया। वह दोनों हाथों से अपनी पसलियों को मसलते हुए एक ऐसी आवाज़ में बोला जिसमें आवाज़ कम और भूख ज़्यादा थी—"आर्यबंधु जी, जल्दी कीजिए!"

शास्त्री जी ने आधा गायत्री और एक कोई और मंत्र पढ़ा, फिर ओ३म् नाम का जयकारा लगाते हुए जनेऊ का एक बल उसकी गरदन में डाल दिया लेकिन जब वह जनेऊ को उसके बाज़ू के नीचे से गुज़ारने लगे तो उन्होंने देखा कि उसकी बग़ल के बाल बहुत बढ़े हुए हैं—इसलिए वह रुक गए और नाई से बोले, "ए नथवा, हाथ धो कर ज़रा इसकी बगलें भी मूंड दे।" और जब नथवा उसकी एक बग़ल मूंड चुका तो उसने शरारत-आमेज़ लहजे में मगर प्रत्यक्ष रूप में बड़ी गम्भीरता के साथ पूछा, "शास्त्री जी, क्या इसकी बगल में भी कोई चोटी रखनी है?"

शास्त्री जी तिलमिला उठे—"ओ म्लेच्छ, अपने काम से काम रख ! धर्म-कर्म के कार्यों में बाधा मत डाल !"

और जब नथवा अपना काम समाप्त कर चुका तो शास्त्री जी ने जनेऊ उसके बाजू को ऊपर उठा कर पहना दिया। खुशी से उनका चेहरा खिल उठा और बोले—"अब तुम पूर्णरूपेण धर्मवीर बन गए हो।" फिर शास्त्री जी ने दूसरे धर्मवीरों के साथ उससे भी कुछ नारे लगवाए और उन्हें कण्ठस्थ करने को कहा।

थोड़ी देर में ही सब के सामने पत्तलें लगा दी गयीं और रोटी परोस दी गयी। धर्मवीर ने खूब लम्बे-लम्बे हाथ मारे और जब उसका पेट भर गया और रोटी उसके गले में फस गयी तो वह चिल्लाया—"आर्यबंधु, ज़रा पानी तो देना !" एक आर्यबंधु उसे पानी से भरा कुल्हड़ दे गया और जब वह दोनों हाथों से कुल्हड़ को उठा पानी पीने लगा तो उसे अचानक उसमें अपनी सूरत नज़र आ गयी। वह एक क्षण के लिए रुक गया और फिर यह सोचते हुए जब वह पानी पीने लगा कि भला यह मैं कैसे हो सकता हूँ, तो उसे एक तरफ़ को बाहर निकली हुई चोटी नज़र आ गयी जो थूक खुश्क हो जाने की वजह से फिर खड़ी हो गयी थी। उससे अपनी सूरत भी पहचानी न जा रही थी। उसने अपने मुँह को खूब जाँचा और जब उसे यक़ीन हो गया कि यह 'मैं' ही हूँ तो उसे ऐसा लगा जैसे उसके गले में रोटी, नहीं काँटों का गुच्छा फँसा हुआ हो; और उसे नीचे उतारने के लिए उसने आँखें बन्द

करके पानी से भरे हुए कुल्हड़ को मुँह से लगाया और खाली कर दिया। जब सब धर्मवीर खाना खा चुके तो शास्त्री जी ने अपनी जेब से बीड़ी का एक बंडल निकाला और सब को एक-एक बीड़ी बाँट दी और सब को कुछ समय के लिए विश्राम करने का आदेश दिया और स्वयं घर को चल दिए।

शाम को शास्त्री जी ने आते ही धर्मवीरों से पूछा—"जयकारे तो सबको याद हैं ?"

सब ने जवाब दिया—"जी हाँ !"

शास्त्री जी बोले—"तो चलो, फिर जयकारों का अभ्यास रास्ते में ही हो जाएगा।"

सबने सफ़ेद खद्दर की धोतियाँ बांध रखी थीं और पाँव में खड़ावें थीं, गले में जनेऊ थे और सबके सिर पर चोटियाँ थीं और इन सबके आगे शास्त्री जी थे जो थोड़ी-थोड़ी देर के बाद बड़ी ही सुरीली आवाज़ में नारा लगाते थे—"बंधुओ, माता के गुणगान करो !" और शास्त्री जी के पीछे सब एक ही स्वर में बोलते, "बंधुओ, माता के गुणगान करो !"

अभी जलूस लाल क़िले के पास ही पहुँचा था कि शास्त्री जी ने खुशकुन आवाज़ में नारा लगाया—"धर्म का..." इस पर सब धर्मवीर ख़ामोश रहे क्योंकि वे यह नारा भूल गए थे लेकिन इतने में ही जो नया धर्मवीर बना था, उसे कुछ याद आ गया और वह पूरे ज़ोर से बोला—"धर्म का नाश हो।"

शास्त्री जी के तन-बदन में आग लग गयी और उसे चोटी से खींचते हुए बोले—"अरे दुराचारी, धर्म का नाश हो नहीं, अधर्म का नाश हो।" और फिर सब धर्मवीरों को सम्बोधित करते हुए बोले, "धर्म की जय हो—इसे स्मरण कर लो, अब भूलना मत!"

और जब शास्त्री जी यह जरूरी आदेश दे कर आगे जाने लगे तो नये धर्मवीर ने उन्हें चोटी से पकड़ लिया और विनम्र स्वर में बोला—"आर्यबंधु, एक बीड़ी तो पिला दो!"

शास्त्री जी आग बबूला हो गए। "अरे उल्लू के पट्ठे, पहले नारे तो ठीक लगा!"

और फिर सब मिल कर ठीक नारे लगाने लगे।

"बकरी हमारी माता है।"

"माता है भई, माता है।"

"बकरी हत्या....."

"बन्द हो!"

"माता के गुणगान करो!"

"गुणगान करो भई, गुणगान करो!"

अभी वे नारे लगा ही रहे थे कि इतने में पुलिस की गाड़ी आन पहुँची। शास्त्री जी सदैव की भाँति मौका देख कर जलूस से खिसक गए और एक पनवाड़ी की दुकान पर जा खड़े हुए। पुलिस ने सब धर्मवीरों को गिरफ्तार कर के

गाड़ी में बैठा दिया और गाड़ी कोतवाली की तरफ़ चल दी।

धर्मवीर बहुत हैरान था। जब वह कुछ नतीजा न निकाल सका तो उसने दरवाज़े पर बैठे हुए सिपाही से पूछा, "क्यों आर्यबंधु ! माता के गुणगान करना क्या कोई अपराध है ?"

"चुप बे, तेरी माँ की गौ-शाला मारूँ," सिपाही ने उसकी गुद्दी पर एक धौल जमाते हुए कहा, "इसका जवाब तो थाने में तुम्हारा बाप देगा।" और धर्मवीर टुकुर-टुकुर दूसरे धर्म-वीरों की तरफ़ देखने लगा जो डर के मारे अपनी खोपड़ियाँ एक-दूसरे के पीछे बिल्कुल इस तरह छिपाने की कोशिश कर रहे थे जिस प्रकार पाले की मारी हुई भेड़ें क़साई के डर से एक-दूसरे के पीछे छिपती हैं।

गाड़ी थाने के अन्दर जा रुकी, सब धर्मवीरों को बाहर निकाला गया और थानेदार साहब की सेवा में उपस्थित कर दिया गया। थानेदार साहब की कुर्सी के पास ही एक चोर को दो सिपाहियों ने उलटा लटका रखा था और तीसरा सिपाही अपनी पूरी ताक़त से उस पर चमड़े का एक बहुत बड़ा तला बरसा रहा था। जब तला चोर की पीठ पर पड़ता था तो दिल को बींधने वाली एक चीख़ उसके मुँह से निकलती थी और उसका सारा बदन तड़पता था।

धर्मवीर ने जब यह हालत देखी तो उसे ऐसा लगा कि उसकी धोती ख़राब हो रही है। वह डर के मारे जहाँ खड़ा था, वहीं बैठ गया ; तो एक सिपाही ने आ कर उसे कान से पकड़ कर खड़ा कर दिया और जब उसकी नज़र नीचे ज़मीन पर पड़ी तो उसने उसे एक मोटी-सी गाली दी, "कमीन की औलाद, यह पेशाब करने की जगह है !" और सिपाही उसे गरदन से पकड़ कर संडास की तरफ़ ले गया—"चल अन्दर दफ़ा हो, और जल्दी से बाहर आ।" संडास के पास पहुँच कर उसने धर्मवीर को एक ज़ोर का धक्का दिया और वह सीधा दरवाज़े के साथ जा कर टकराया मगर मुँह से कुछ न बोला। उसने धीरे से दरवाज़ा खोला और जब वह निवृत्त हो चुका तो अचानक उसकी नज़र संडास की दीवार पर पड़ी जो कि बहुत कम ऊँची थी। उसने एकदम निश्चय किया और वह अपने सारे साहस को बटोर कर दीवार पर चढ़ गया, एक बार उसने पीछे मुड़ कर देखा और बड़ी जल्दी से दूसरी तरफ़ गली में छलाँग लगा दी लेकिन वह ज़मीन पर गिरने की बजाय एक बकरे पर जा गिरा जो कि गंद पर चर रहा था। बकरे ने न आव देखा न ताव, धर्मवीर को तीन-चार बार सींगों पर उठा कर ज़मीन पर ज़ोरदार पटख़नियाँ दीं। इतने में उसने सिपाही की सीटी सुनी और आन-की-आन में दस-बारह सिपाहियों ने आ कर उसे फिर पकड़ लिया।

जब वे उसे दोबारा थाने में ले जा रहे थे तो उसने हसरत भरी नज़रों से बकरे को देखा और रुँधे हुए गले से कहा, "साले, मैं तेरी माँ के लिए ही तो यह सब कुछ कर रहा था और तूने मुझे ही मरवा दिया !"

इस कहानी का गौ-हत्या के साथ कोई उचित या अनुचित सम्बन्ध नहीं है।

यह

मैंने ऐसे ही नहीं लिख दिया जिस तरह वैदिक-धर्म का प्रचार करने वाले स्वामी दयानन्द के जन्म-दिन पर वे अपने अख़बार का एक विशेषांक निकालते हैं और दूसरे दिन स्वाद बदलने के लिए फ़िल्मी एक्ट्रसों के अर्ध-नग्न चित्र छाप कर नीचे लिख देते हैं :

ऐसे अनैतिक एवं अश्लील चित्र
भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल हैं।

—सम्पादक

अपनी बात

मैं जिन्दगी में सिर्फ़ दो बार रोया हूँ !

एक बार तब—जब मैं सिसकियों में से ललित मुसकान समेट न सका

और

दूसरी बार तब—जब मैंने फ़िल्म 'हूरे अरब' में उर्दू के एक प्रसिद्ध कहानीकार को पेट की खातिर तलवार चलाते देखा।

सच्ची बात

एक दिन प्रोफ़ेसर शान्तिस्वरूप बड़े विश्वास के साथ कहने लगे, "नारंग, अपना एक उपन्यास छप कर मार्किट में आ लेने दो, फिर देखना—प्रकाशक लोग मेरे पीछे भागते फिरेंगे।

मैंने मुसकराते हुए कहा, "प्रोफ़ेसर साहब, कहीं लठ ले कर ही न भागें!"

आप विश्वास कीजिए कि मेरा कहा बिल्कुल सच निकला—अब मेरे बारे में आपका कहा कब सच निकलेगा, यह विधाता ही जाने!

★

आख़िरी बात

एक दिन कार्यवश जब मैं नागार्जुन जी के पास गया तो विकृत कुलकर्णी भी अचानक वहाँ आ गये और मुझे देखते ही बोले—"जो लोग उर्दू से हिंदी की तरफ़ आ रहे हैं, उन्हें तो गोली मार देनी चाहिए।"

अब

आप दिल पर हाथ रख कर यह बताइए कि क्या आपने यह किताब एक ही बैठक में पढ़ डाली है?

यदि आपका जवाब 'हाँ' में हो तो लिखिए! हम आपको एक असली गोली वाला 'पिस्तौल' और दूध की बोतल पर लगने वाला रबड़ का 'निप्पल' बिल्कुल मुफ़्त भेजेंगे।

★

छपते-छपते

● अपने को यह किताब कुछ जँची नहीं। मैंने सिर्फ़ एक ही कहानी पढ़ी, पर भाई साहब, मजा (मज़ा) आ गया।

—कम्पोज़ीटर

● नारंग का फन (फ़न) इस किताब में किसी शोखोसंग (शोख़-ओ-शंग) हशीना माह यबीना (हसीना मह जबीना) के होठों पर लगी हुई लिपस्टिक (लिपस्टिक) की तरह नुमाइयाँ (नुमायाँ) है। —मेरा एक दुश्मन जो दोस्त के भेष में मुझे प्रेस में मिलने आया करता था।

● नारंग जी ने यह किताब इस तरह छपवायी है जैसे यह कोई धार्मिक ग्रन्थ हो। अगर कोई मात्रा न उभरती थी तो चलती मशीन फ़ौरन रुकवा देते और चिल्ला कर कहते थे कि पहले यहाँ पर चेपी लगाओ। —प्रेस मालिक

● अरे, तू मेरे पर लिख कर मुझे क्यों मारने लग रहा है ! कम्बख़्त, किसी को तो बख़्शा कर। देख ले, किसी रोज़ हत्या दे कर मर जाऊँगा तो तेरी सारी कला बेकार में ही चली जाएगी। —आधुनिक युग के एक शरत् बाबू जो प्रेस में ही बैठ कर उपन्यास लिखा करते थे और कम्पोज़ीटर को मैटर तब देते थे जब वह उन्हें चाय पिलाता था।

● तीन-तीन बार प्रूफ़ देखने के बाद अब यह कह सकता हूँ कि मेरा उर्दू का उच्चारण शुद्ध हो गया है, वरना शुरू-शुरू में नारंग साहब से मैं अक्सर यह पूछा करता था कि 'काफ़ी' में क कुत्ते वाला लगेगा या बिंदी वाला और 'ग़ौर' में ग नारंग वाला या बिंदी वाला ? फिर भी इस किताब में जो ग़लतियाँ मेरे और कम्पोज़ीटर की वजह से रह गयी हैं, उन पर जी तो यही चाहता है कि एक अलग किताब छापी जाए मगर सोचता हूँ कि जो ग़लतियाँ उस किताब में फिर रह जाएँगी, उनका क्या बनेगा ?

—प्रूफ़ रीडर

स्वप्न प्रेस